

Brown Colour Book

Pages are missing

विश्लेषण

—श्री इलाचन्द्र जोशी

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178708

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H84

Accession No.

P. G. 1
H2103

Author

J83V

Title

जीशी, इलाचय्य .

विश्लेषण . 1954.

This book should be returned on or before the date last marked below.

विश्लेषण

(साहित्यिक निबंध संग्रह)

लेखक :

श्री इलाचंद्र जोशी



भागलपुर-२-(बिहार)

प्रकाशक :

शारदा प्रकाशन, भागलपुर-२.

मुद्रक :

शारदा प्रेस, भागलपुर-२.

आवरण चित्रकार :

चित्रशाला, भागलपुर.

आवरण मुद्रक :

शारदा प्रेस, भागलपुर.

प्रथम संस्करण :

सन् १९५४ ई०

मूल्य—३)

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
१—उपेक्षिता ऊर्मिला	... १
२—प्रसाद जी की काव्य-धारा और उसकी परिणति	... ८
३—कामायनी	... २७
४—प्रसाद जी का कथा-साहित्य और कंकाल	... ४१
५—प्रेमचंद जी की कला का मूल तत्त्व	... ४८
६—प्रेमचंद जी का व्यक्तित्व और साहित्य	... ६०
७—जीवन-विजयिनी महादेवी	... ६८
८—आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान	... ८०
९—साहित्य में भूत, वर्तमान और भविष्य	... ९१
१०—विश्व-साहित्य में मनोविज्ञान	... १००
११—युग-समस्याएँ और साहित्यकार	... ११३
१२—समस्त कलाओं का मूल उत्स	... १२३
१३—कला में सौन्दर्य का आदर्श	... १२८
१४—साहित्य में प्रेम-तत्त्व	... १३६
१५—वर्तमान हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	... १४०
१६—साहित्य में विषाद रस	... १४६
१७—छोटी कहानी की विशेषता	... १५५
१८—मेरे उपन्यास	... १६३

उपेक्षिता ऊर्मिला

पचास वर्ष से अधिक हुए रवीन्द्रनाथ ने एक छोटा सा निबंध लिखा था, जिसका शीर्षक था—‘काव्येरे उपेक्षित’। प्राचीन काव्यों में जो पात्र-पात्रियां अपने सतेज व्यक्तित्व की क्षणिक विजली झलकाने के बाद कवि की विस्मृति के अंधकार में विलीन हो गईं उनकी ओर से उक्त निबंध में वकालत की गयी थी। उन उपेक्षिताओं में रामायण की ऊर्मिला को कवि ने प्रमुख स्थान दिया था। रवीन्द्रनाथ का कहना था कि सीता के हर्ष और विपाद ने रामायणकार को इस कदर छा लिया था कि दूसरे स्त्री-चरित्रों के प्रति वह एकदम उदासीन रहा। पुरुष-पात्रों में राम और लक्ष्मण दोनों को अपने-अपने क्षेत्रों में रामायणकार ने महत्व दिया। दोनों चरित्र का निरूपण अंत तक, विस्तार के साथ किया गया है। पर स्त्री-पात्रों में जहाँ राम-दयिता सीता के चारित्रिक प्रस्फुटन में महाकवि ने अपूर्व चमत्कार दिखाया है वहाँ रामानुज (लक्ष्मण)—दयिता ऊर्मिला की एकदम उपेक्षा की गई है। प्राचीन युग के एक कवि का यह पक्षपात आधुनिक युग के मर्म कवि रवीन्द्रनाथ को बहुत अखरा। ऊर्मिला की उपेक्षा रवीन्द्रनाथ को इसलिये भी खटकी कि उन्हें यह नाम बहुत ही सुन्दर और काव्योचित लगा है। किसी भी प्राचीन काव्य में ऊर्मिला के समान कमनीय, कोमल, सजल और तरल नाम दूसरा नहीं पाया जाता।

रवीन्द्रनाथ की इस सूझ से हिन्दी के वयोवृद्ध और आदरणीय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लाभ उठाया। अपने सुप्रसिद्ध काव्य ‘साकेत’ में उन्होंने ऊर्मिला को जो स्थान दिया है, वह सीता से किसी भी अंश में कम नहीं, बल्कि कुछ अंशों में अधिक महत्वपूर्ण है।

रामायणकार ने इस संबंध में तनिक भी सूचना देना आवश्यक नहीं समझा कि राम के साथ वन जाने के पूर्व लक्ष्मण ने ऊर्मिला को क्या कह कर सात्वना दी। रामायणकार की इस उपेक्षा से यह विश्वास करने

की इच्छा होती है कि लक्ष्मण जैसे विवाह होने के समय से लेकर वन-गमनकाल तक ऊर्मिला के साथ अस्थिर व्रत का पालन करते रहे। उनकी इस तापसी मनोवृत्ति का कोई कारण समझ में नहीं आता। केवल राम के प्रति ही उनकी अनुरक्ति पायी जाती है और माता, पिता, स्त्री तथा परिवार के दूसरे स्वजन-सुहृदों के प्रति वह जैसे केवल शिष्टाचार का ही नियम पालन करते रहे। पर यह कैसे संभव हो सकता था कि उनके समान तेजस्वी व्यक्ति के प्रति उनके स्वजन-सुहृद भी उसी प्रकार उदासीन रहने? विशेष करके हिन्दू कुल में उत्पन्न, पातिव्रत धर्म के शिक्षा-संस्कारों के बीच पली हुई उनकी अर्द्धांगिनी ऊर्मिला 'तद्गतेन मनसा' होने के सिवा दूसरी बात सोच ही नहीं सकती थी।

'साकेत' की ऊर्मिला के चरित्र के अध्ययन से हमें जो अनुभव होने लगता है वह इस प्रकार है—एक ओर जन्मगत संस्कार तथा सामाजिक शिक्षा द्वारा उसके मन में स्वभावतः यह धारणा बद्धमूल हो गयी थी कि पति का रख चाहे कैसा ही निर्मम और निपट उपेक्षापूर्ण क्यों न हो उसे उन्हीं की अंतर्भावना के साथ अपनी अंतर्प्रवृत्तियों के तारों का स्वर मिलाना होगा। दूसरी ओर उसके भीतर जो हाड़-मांस की मानवी थी वह स्वभावतः बीच-बीच में इस कल्पना से खिन्न हो उठती होगी कि आजीवन पति की उपेक्षा का भार सहज प्रसन्नता से, शान्त भाव से, बिना तनिक भी शिकायत के सहते चले जाने का जो कर्त्तव्य विधाता ने उस पर थोप दिया है वह अधिक सहन योग्य नहीं है। और जब सहसा चौदह वर्ष के लिए वन-गमन का परवाना आ गया तब स्वभावतः उसका अंतर्द्वन्द्व—जो अब तक अत्यन्त अव्यक्त अस्पष्ट और अज्ञात रूप में उसके मन के बहुत भीतर वर्तमान था—वह अत्यन्त स्पष्ट, तीव्र और सचेत हो उठा। लक्ष्मण के वनगमन के बाद वह पहली बार यह अनुभव करती है कि :

रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया !

यह मर्मघाती अमृभूति उसके मन में बरबस जीवन के प्रारंभिक काल की स्मृतियाँ जगाती है; उसके वाह्य और अंतर्जीवन का अलबम खोलकर

एक-एक करके प्रत्येक चित्र पर ऐकांतिक रूप से विचार करने की प्रेरणा देती है :

जीवन के पहले प्रभात में, आँख खुली जब मेरी,
हरी भूमि के पात-पात में, मैंने हृद्गति हेरी ।
खींच रही थी दृष्टि सृष्टि, यह स्वर्ण-रश्मियां लेकर,
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय में सेकर ।
तृण-तृण को नभ सींच रहा था, बूँद-बूँद रस देकर,
बढ़ा रहा था सुख की नौका, समय समीरण खेकर ।
बजा रहे थे द्विज दल बल में, शुभ भावों की मेरी,
जीवन के पहले प्रभात में, आँख खुली जब मेरी ।

कहां गया जीवन का वह सदय, सहृदय, संजीवन, रसमय, कमनीय,
कान्त, स्वर्ण-रश्मिमय प्रभात ? जीवन मध्याह्न जाते न जाते हृदय की
समस्त कलित, कोमल, सजल, सरस भावनाएं एकदम झुलस गईं, न वह
सुखद वेदना की अनुभूति शेष रही न मधुर वेदनामय सुख की :

यह जीवन मध्याह्न सखी, अब शांति-क्रांति जो लाया,
खेद और प्रस्वेदपूर्ण यह, तीव्र ताप है छाया ।
पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया ?
रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया ।
यह विषाद ! वह हर्ष कहां अब देता था जो फेरी,
जीवन के पहले प्रभात में, आँख खुली जब मेरी ।

मध्याह्न और अपराह्न समाप्त होने पर चौदह वर्ष बाद जो जीवन-संध्या
आएगी वह क्या पिछले जीवन की सारी व्यर्थता की क्षति की पूर्ण पूरक
सिद्ध हो सकेगी ? तब क्या प्राणों की रक्तधारा का वह जीवन-वे
वर्त्तमान रहेगा ? कौन जाने !

आगे जीवन की संध्या है, देखें क्या हो आली ।
तू कहती है—‘चन्द्रोदय ही काली में उजियाली !
सिर आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली ।’

किन्तु करेंगे कोक शोक की तारे जो रखवाली !
फिर प्रभात होगा क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आंख खुली जब मेरी ।

उस दीर्घ अवधि के बाद भी कुमुदिनी प्रियतम की पद-लाली सिर
आंखों पर लेना चाहेगी, उसका तो वह धर्म ही है । पर प्रकृति के वज्र-
नियम से उस दीर्घ व्यवधान के बाद उस मिलन सुख में कोक-शोक जो
सालने लगेगा ! निश्चय ही कुमुदिनी के अन्तर में वह अमिश्रित उमंग
और उत्साह नहीं रहेगा जो जीवन के मध्याह्नकाल में प्रिय का संसर्ग बने
रहने में होता, वह व्यवधान अपने-आप जीवन की कुछ दूसरी धाराएँ भी
लेता जायगा, जो गहन अँधेरी होंगी । मानव जीवन की यही ट्रेजेडी है ।
पर फिर भी प्रणय हार मानना नहीं चाहता । उस संध्या के बाद भी वह
फिर नये सिरों से नये प्रभात की आशा में, अलख जगाता रहेगा ।

ऊर्मिला की विरह-वेदना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह उसके
अन्तर के उन रहस्य-पटों को एक-एक करके खोलती चली जाती है जो
इतने असें तक एक ओर उसकी सहृदय कर्त्तव्य-परम्परा और भोले हृदय
और दूसरी ओर कठोर, वास्तविक संसार के बीच सघन पर्दा डाले हुए थे ।

जहां विरह ने भार दिया है किया वहां उपकार भी,
सुध-बुध हर ली, किन्तु दिया है काल ज्ञान विचार भी,
जाना मैंने इस उर में थी ज्वाला भी जलधार भी,
प्रिय ही नहीं यहां मैं भी थी और एक संसार भी ।

जब तक प्रिय निकट थे तब तक उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उन्हीं
में विलीन था । प्रियतम, अपना निजत्व, और दोनों से अलग विराट
संसार—इन तीनों के बीच में कहीं कोई व्यवधान नहीं जान पड़ता था ।
पर प्रिय के विलगते ही उसे अपने निजत्व का पता चला जो अत्यन्त
मार्मिक शूल वेदना का अनुभव करता है और साथ ही उस विराट संसार के
अस्तित्व का भी अनुभव उसे हुआ जो उस मर्मान्तिक वेदना की सम्पूर्ण
उपेक्षा किये अपना सारा कार्य नियमित रूप से चलाये जा रहा था ।

जर्मिला इस बात का अनुभव अवश्य करती है कि प्रेम दोनों ओर पलता है—पतंग भी जलता है और दीपक भी निरन्तर जलता ही रहता है। पर साथ ही यह ज्ञान भी उसे हो जाता है कि दीपक केवल-मात्र पतंग के लिये नहीं जलता, उसका ध्येय वहीं तक सीमित नहीं है, उसकी महत्वाकांक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है—आत्मत्याग की परिधि बहुत विस्तृत है। वह अपने अन्तर्प्राणों का स्नेह पिला-पिलाकर जिस ज्योति को जलाता है उसकी लौ किसी दूसरी ही मश-ज्योति में अपने को विलीन करने की प्रतीक्षा में रहती है। इसके अतिरिक्त अपने को केवल जलाते रहने में ही उसे सुख है। उसका आत्म-त्याग, आत्म-प्रज्वालन पतंग के लिये नहीं, अपने अहम् की तृप्ति के लिये है।

दीपक के जलने में आली, फिर भी है जीवन की लाली,
किन्तु पतंग भाग्य लिपि काली, किसका वश चलता है ?

वह जान जाती है अपने युग के पुरुषों की इस आत्म-परायण दार्शनिक नीति को—“अपि स्वेदहात् किमुतेन्द्रियार्थात् यशोधनानां हि यशो गरीयः”—यश को ही जीवन धन समझने वाले महापुरुषों के लिये अपने प्राणों से भी यश प्यारा है, फिर इन्द्रिय-सुख-विषयक वस्तुओं की (जिनके अन्तर्गत उस युग के दृष्टिकोण में स्त्री भी आती थीं!) बात ही क्या है! पर लक्ष्मण को ठीक यशोधन न कहकर हम तपोधन कह सकते हैं।

तप केवल तप के लिये, त्याग केवल त्याग के लिये—चिर-प्रतिभाशाली पुरुष-प्रवृत्ति का यह चिर-रूप जलते रहने वाले दीपक की तरह ही प्रदीप्त किन्तु निपट निर्मम है। स्नेह-प्रेम, दया-माया की करुण कोमल साधना में पली हुई नारी उस ऐकांतिक निष्ठुरता का कोई उद्देश्य समझ ही नहीं पाती। पतंग की तरह ही उसे अक्सर भ्रम होने लगता है कि दीपक उसी के लिये जल रहा है। दीपक उसकी इस नादानी पर केवल सिर हिला कर मुस्करा देता है। यह सही है कि वह बीच-बीच में नादान पतंग को निषेध भी करता है। पर पतंग अपने मरने के अधिकार को त्यागने को कभी तैयार नहीं होता ;

कहता है पतंग मन मारे—

तुम महान मैं लघु, पर प्यारे क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
शरण किसे छलता है ?

पर मरणधर्मी पतंग के भीतर भी बीच-बीच में स्वाभिमान की चेतना जग उठती है। केवल जलने के लिये जलने वाले, केवल तपने के लिये तपने वाले दीपक के प्रति आत्मार्पण करना उसे जैसे अखरने लगता है। उसके भीतर द्वन्द्व चलता है, पर फिर वह पराजित हो जाता है। फिर उसी अखंड ज्योति में जलकर भस्म होने की प्रवृत्ति जोर मारती है। पतंग अपने विद्रोह की निरर्थकता समझ जाता है और केवल कातर प्रार्थना करता है :

मन को यों मत जीतो !

बैठी है यह यहां मानिनी, सुध लो इसकी भी तो !
इतना तप न तपो तुम प्यारे, जले आग सी जिसके मारे,
देखो ग्रीष्म-श्रीष्म तनु धारे, जन को भी मन चीतो !
प्यासे हे प्रियतम, सब प्राणी, उन पर दया करो हे दानी,
इन प्यासी आंखों में पानी, मानस, कभी न रीतो !
मन को यों मत जीतो !

प्रियतम के प्रेम-रस की रस-प्यासी मानिनी धीरे-धीरे इस सत्य को महसूस करने लगती है कि केवल उसकी अकेले की तृप्ता के उपराम की कामना कभी उसे स्थायी तृप्ति नहीं दे सकती। समस्त विश्व के व्याकुल प्राणों की प्यास बुझे, जब तक यह कामना उसके अन्तर्मन से नहीं निकलती तब तक उसके व्यक्तिगत विलाप और रुदन की कोई सार्थकता नहीं है। इसीलिये वह वर्षा के सजल धन से प्रार्थना करती है :

बरसो, बरसो धन, बरसो !

सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नव-यौवन बरसो !
धुमड़ उठो अषाढ़ उमड़ कर पावन सावन बरसो !
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो !
जड़ चेतन में विजली भर दो, ओ उद्बोधन बरसो !

घट पूरो, त्रिभुवन मानस-रस, कन-कन छन-छन बरसों !
आज भीगते ही घर पहुँचे, जन-जन के जन बरसो !

षट्-श्रुतियों के आवर्त्तन में, प्रकृति के प्रमुदित नर्तन में और जन-जन के हास-रदन में प्रियतम के ही व्यक्तित्व का मंगलमय प्रस्फुटन पाती हुई ऊर्मिला अपनी व्यक्तिगत प्रेम-पीड़ा विश्व-प्रेम और विश्व-पीड़ा में विलयित करने के लिए आकुल हो उठती है। प्रेम की इस उदार परिस्थिति में ही 'साकेत' की ऊर्मिला की सार्थकता है :

रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ़ सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी,
सुध प्रियतम की मिले मुझे, फल जन-जीवन दान का तुझे,
हँसो, हँसो हे शशि फूल फूलो, हंसो हिंडोरे पर बैठ भूलो,
प्रकृति, तू प्रियकी स्मित-मूर्ति है, जड़ित चेतन की त्रुटि-पूर्ति है,
रख सजीव मुझे मन की व्यथा, कह सखा, कहतू उनकी कथा,

ऊर्मिला के इस मनोभाव का सारा निचोड़ इन दो पंक्तियों में आ जाता है :

तरसूं मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सब को सुख होगा तो, मेरी भी आएगी बारी।
हम भी कहना चाहते हैं—“एवमस्तु !”



प्रसाद की काव्यधारा और उसकी परिणति

हिन्दी काव्यरस की जो रुद्ध धारा एक संकीर्ण आवर्त के भीतर आवद्ध थी और उस ग्रंथकूप से बाहर निकलने का कोई पथ न पाकर अपनी दुर्गन्ध से अपने आप भाराक्रान्त हो रही थी, प्रसाद जी ने अपनी प्रबल प्रतिभा से उसका अवरोध विदीर्ण कर दिया, उसके मुक्त स्रोत को शत-शत धाराओं में उच्छ्वसित होकर एक विशाल झरने की तरह अप्रतिहत प्रवेग से बह निकलने का मार्ग सुगम कर दिया। जिस प्रतिभा ने युग-युगव्यापी जड़ता से तमसच्छन्न हमारे साहित्य जगत के आकाश में नवीन प्रकाश तथा उन्मुक्तोल्लास का संचार किया, वह कैसी असाधारण रही होगी, इसका अनुमान भावुक जन भलीभाँति लगा सकते हैं।

बचपन में 'कविता-कुसुम-माला' में संगृहीत कविताओं में निम्न कोटि की पंक्तियाँ पढ़ने को मिलती थीं :

“ब्रह्मन्, तजें पुस्तक प्रेम आप,
देता तुम्हें हूँ यह राज्य सारा,
मुझसे कहेगा यदि चक्रवर्ती
ऐसा न राजन, कहिये, कहूँ मैं।”

× × ×

“अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है
क्यों न इसे सब का मन चाहे !”

× × ×

“क्यों पाप पुण्य पचड़ा जग बीच छाया ?”

इस श्रेणी की कविताओं के विचित्र 'कुसुमों' का आघ्राण करते-करते जत्र सिर में दर्द होने लगा तो एक दिन 'इन्दु' की एक फाइल कहीं से मिल

गई। उसके पृष्ठों को उलटते हुए अकस्मात् एक कविता की निम्न पंक्तियों पर आँखें गड़ गयीं :

आकाश श्री - सम्पन्न था
नव नीरदों से था घिरा,
संध्या मनोहर खेलती थी,
नील-पट तम का गिरा।
यह चंचला चपला दिखाती
थी कभी अपनी कला,
ज्यों वीर वारिद की प्रभामय
रत्नवाली मेखला।
हर ओर हरियाली, विटप डाली
कुसुम से पूर्ण हैं,
मकरंदमय ज्यों कामिनी के
नेत्र मद से घूर्ण हैं।

इन पंक्तियों के आविष्कार से ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे तत्कालीन हिन्दी कविता के निश्चल जगद्गल पापाण की जड़ता को भेद कर गद्गद प्रवेग से निर्भर-स्रोत फूट निकला हो और उसका अविरत प्रवाह हृदय के प्रान्त-प्रान्त को अपनी स्निग्ध सरसता से सिंचित करने लगा।

यह कविता बाद में प्रसाद जी की अन्यान्य कविताओं के साथ 'कानन-कुसुम' नामक संग्रह में संकलित हो गयी थी। 'कानन कुसुम' की कविताओं में छायावाद के आगमन की सूचना उसी प्रकार स्पष्ट दिखाई देती है जिस प्रकार प्रयाग के संगम में गंगाजल में यमुना की नीली भाँई स्पष्ट झलक उठती है। इस संग्रह की एक और कविता 'प्रथम प्रभात' की कुछ पंक्तियाँ हम उद्धृत करते हैं, जिनसे हमारा वक्तव्य और भी स्पष्ट हो जायगा :

मनोवृत्तियाँ खग कुल की थीं सो रही
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा शान्त हृदय भी हो रहा,

वाह्य, आन्तरिक प्रगतिसभी सोती रहीं ।
 स्पन्दनहीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था,
 अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरंद में,
 अहा अचानक किस मलयानिल ने तभी
 (फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)
 आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें !
 वर्षा होने लगी कुसुम मकरंद की,
 प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में;
 कैसी छवि ने बालारुण सी प्रकट हो,
 शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया !

हिन्दी काव्य भावनाहीन तुकबंदी के कठोर कारागार में पड़ा-पड़ा कराह रहा था । प्रसाद जी ने उसकी शृंखलाओं को तोड़ कर उसे अपने मन के भव्य प्रसाद से संलग्न रम्य हृदयोद्यान में लाकर मुक्त वातावरण में विचरने को छोड़ दिया, जहां वह चिदानन्दमय रस के मानस में डूबता-उतराता हुआ मधुर मोह-माया का अनुभव करने लगा । ऊपर उद्धृत की गई कविता 'प्रथम प्रभात' प्रायः ४५ वर्ष पहले लिखी गई थी । अर्थात् वह उस युग में लिखी गई थी जब हिन्दी की तुकबंदी का युग एक ओर पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था, और दूसरी ओर उसके नीचे से मिट्टी खिसकने लगी थी । तुकबंदी की उस सुदृढ़ नींव को ढहाने में प्रसाद जी का प्रमुख हाथ रहा है ।

'कानन-कुसुम' में छायावादी कविता का जो स्रोत निकला था, वह आगे बढ़ कर निर्मर के राशि-राशि जल-प्रपात की तरह 'भरना' के रूप में बहने लगा । 'भरना' नामक कविता संग्रह में विशुद्ध छायावाद का रस हिन्दी साहित्य में प्रथम बार परिपूर्ण रूप से छलकता हुआ दिखाई दिया । भरने पर यदि तुकबंदी युग का कोई कवि कविता करने बैठता तो संभवतः इस तरह की पंक्तियाँ लिखता :

भरने ! तेरा कल कल नाद, मन को पहुँचाता आदूलाद !

तेरा स्वच्छ सुशीतल नीर, मन को करता हर्ष-अधीर !
 अहो शैल के पुत्र महान ! मुनिगण तुझ में करते स्नान !
 कहां तुम्हारा तीर्थ-स्थान ? किस सरिता का तुमको ध्यान ?
 धन्य धन्य हो तुम निर्भर ! बहते हो नित भर भर भर !

पर प्रसाद जी ने उसी युग में भरने पर जो कविता लिखी वह इस प्रकार थी :

मधुर है खोत, मधुर है लहरी, न है उत्पात, घटा है छहरी,
 मनोहर भरना !

कठिन गिरि कहां विदारित करना, बात कुछ छिरी हुई है गहरी,
 मधुर है खोत, मधुर है लहरी ।
 कल्पनातीत काल की रचना, हृदय को लगी अचानक रटना ।
 देख कर भरना,

प्रथम वर्षा से इसका भरना—स्मरण हो रहा शैल का कटना ;
 कल्पनातीत काल की घटना !

कर गई प्लावित तन मन सारा एक दिन तब अपांग की धारा !
 हृदय से भरना—

बह चला, जैसे दृगजल ढरना,

प्रणय-वन्द्या ने किया पसारा, कर गई प्लावित तन मन सारा !

प्रसाद जी का यह भरना हृदय के अंतस्तलकी गिर गुहाओं को विदीर्ण करता हुआ प्रेम-रस के प्लावन से विह्वल हो कर बह रहा है । यह पार्थिव जगत का वह भरना नहीं है “जिसमें मुनिगण करते स्नान ।” व्यक्ति की अन्तःप्रवृत्ति के भावों के दोलन और उद्वेलन का प्रदर्शन हम हिन्दी कविता में पहले पहल प्रसाद जी की कविता में ही पाते हैं । वस्तु-जगत के भरने को अन्तर्जगत के प्रेमोद्वेलन का रूपक बना कर उसके कल-कल क्रन्दन की भावतरंगों को उच्छल उद्वेग में परिणत कर देने का अर्थ है पाठ्य पुस्तकों की जड़ तुकबंदी को चेतनोत्सारिणी का रूप दे देना ।

छायावादी कविता ने अपने युग में जो विजय का डंका बजाया था उसका मूल कारण इसी बात पर निहित है। प्रसाद जी की प्रतिभा का विशेषत्व भी इसी में है।

प्रसाद जी के इस 'भरने' से रवीन्द्रनाथ के 'निर्भर' की तुलना की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ का मन-रूपी निर्भर अपने अन्तर की अन्धगुहा के कारागार में आवद्ध रहने के बाद जब अकस्मात् एक दिन प्रबल वेग से उमड़ता हुआ मुक्त आलोक में प्रवाहित हो पड़ा तो उसने वंग काव्य क्षेत्र में एक मूलतः नयी धारा का आनयन कर दिया। रवीन्द्रनाथ का वह 'निर्भर' अपने विजयोन्नास को इस प्रकार के स्वच्छन्द छन्द की गति में व्यक्त करता है :

अजि ए प्रभाते रविर कर केमने पशिलो प्राणेर पर,
केमने पशिलो गुहार आँधारे प्रभात पाखीर गान !
जागिया उठेछे प्राण ओरे उथलि उठेछे वारि,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग रुधिया राखिते नारि !
थर थर करि कांपिछे भूधर शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
फूलिया फूलिया फेनिल सलिल गरजि उठिछे दारुण रोषे !
भांग्रे हृदय भांग्रे बांधन, साध रे आजिके प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया आघातेर परे आघात कर !
मातिया जखन उठेछे पराण किसेर आंधार किसेर पाषाण !
उथलि जखन उठेछे वासना जगते तखन किसेर डर !
आमि ढालिबो करुणाधारा, आमि भांगिवो पाषाण कारा,
जगत प्लाविया बेड़ाबो गाहिया आकुल पागल पारा ।
रविर किरणे हासि छड़ाइया दिबो रे पराण ढालि,
हेसे खल खल गेये कल कल ताले ताले दिबो तालि ।

अर्थात् : “आज के इस प्रभात में रवि की किरणें मेरे हृदय में न जाने कैसे प्रवेश कर गईं ! मेरे भीतर की अंधेरी गुफा में प्रभात पंछी की तान कैसे आ पहुँची ! आज मेरे प्राण जाग उठे हैं। अरे, मेरे हृदय में जल

राशि उमड़ उठी है। अब मैं अपने हृदय की वासना और प्राणों के आवेग को रोक नहीं पाता।

“भूधर थर थर करके कांप रहा है, राशि राशि शिलाखंड खिसकते जा रहे हैं। फेनिल जल फूल-फूल कर दारुण रोष से गरज उठता है।”

“हृदय ! आज बंधन को छिन्न करके अपनी अभिलाषा पूरी कर ले। लहर पर लहर उठा कर आघात पर आघात करता चला जा। जब प्राण मतवाले हो उठे हैं तब कहां का अंधकार और कैसा पाषाण ! जब वासना उथल उठी है तब संसार में अब किसका डर है !”

“मैं करुणा-धारा बहाऊंगा। मैं पाषाण-कारा को तोड़ डालूंगा। मैं समस्त जगत को प्लावित करता हुआ आकुल हो कर पागलों की तरह गाता चला जाऊंगा। सूर्य की किरणों में अपना हास्य बिखेर कर अपने प्राणों का रस ढाल दूंगा। मैं खिलखिल कर हँसूंगा, कल कल शब्द से गाऊंगा और ताल ताल पर ताली बजाऊंगा।”

रवीन्द्रनाथ के इस निर्भर में और प्रसाद जी के ‘भरने’ में यह साम्य है कि दोनों भाव-प्रधान हैं। दोनों मानस-निर्भर हैं न कि किसी वास्तविक गिरि प्रान्त से संबंध रखने वाले पार्थिव निर्भर। दोनों ने अपने युगों में अपने-अपने साहित्य-क्षेत्रों में क्रान्ति की लहर दौड़ायी। अन्तर केवल यह है कि रवीन्द्रनाथ के निर्भर की धारा अधिक प्रखर तथा वेगशील है और प्रसाद जी का ‘भरना’ करुण तथा क्लान्त गति से वह चला है। मानव-मन को भरने के रूपक में बांधकर दोनों की गतिशीलता तथा उत्ताल तरंगभिधात की समता का प्रदर्शन मनोहर छन्द-संगीत तथा ध्वन्यात्मक प्रवाह द्वारा करना किसी आचार्य का ही काम है। प्रसाद जी इस कला के विशेषज्ञ थे।

तथापि ‘भरना’ में हम प्रसाद जी को उनके वास्तविक रूप में नहीं पाते। हम संग्रह की अधिकांश कविताओं में रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी कविताओं का अनुकरण पाया जाता है और वह भी कुछ विशेष सुन्दर रूप में नहीं ! उदाहरण के लिये :

स्वप्नलोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कंठा में पूर्ण था
हृदय हमारा; फूल रहा था कुसुम सा !
देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये
कलियों की माला विरचित की थी कि, हां
जब तक तुम आओगे ये खिल जायेंगी !
आंख खोल देखा तो चन्द्रालोक में
रंजित कोमल बादल नभ में छा गये,
जिसपर पवन सहारे तुम हो जा रहे !
हाय, कली थी एक हृदय के पास ही,
माला में वह गड़ने लगी, न खिल सकी !

इस प्रकार की पंक्तियों को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि
रहस्यवादी बनने के प्रथम प्रयास में कष्ट-कल्पित भावों के जाल में बुरी
तरह उलझ गया है और आन्तरिक अन्भूति से वह कोसों दूर है। फिर
भी अनुकरण का यह प्रयास इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि उसने हिन्दी
कविता की गति को मूलतः नये प्रवाहपथ की ओर मोड़ने में सफलता
पायी है।

जिन कविताओं पर रवीन्द्रनाथ की छाया नहीं पड़ी है, वे अपने सहज
सौरभ के विकास से स्वयं आमोदित हैं। उदाहरण के लिये :

शून्य हृदय में प्रेम जलद माला,
कब फिर घिर आवेगी ?
वर्षा इन आंखों से होगी,
कब हरियाली छावेगी ?
रिक्त हो रही मधु से,
सौरभ सूख रहा है आतप से,
सुमन कली खिलकर कब अपनी
पंखड़ियां बिखरावेगी ?

लंबी विश्वकथा में
सुख-निद्रा समान इन आंखों में
सरस मधुर छवि शांति तुम्हारी
कब आकर बस जावेगी ?

इन पंक्तियों में कृत्रिम काव्य-कल्पना की क्रीड़ा नहीं, बल्कि अंतर के सच्चे भावों का मर्मोद्गार व्यक्त होता है ।

‘झरना’ की फेन-तंगित धारा को हम आगे जाकर ‘आंसू’ की पावस सरिता के रूप में गद्गद होकर उमड़ते हुए पाते हैं । ‘आंसू’ की गीतिमय वेदना में प्रसाद जी के हृदय की विह्वल भावुकता उच्छल क्रन्दन के साथ अभिनव रूप में व्यक्त हुई है । निर्भर जब उत्तुंग गिरि-श्रृंग से नीचे घाटी पर उतरता है, तब वह जिस मंथर, तथापि अधीर कलरोल से बहने लगता है, वह ‘आंसू’ के प्रारंभिक पदों में ही व्यक्त हो उठता है । इन प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ मैं भी नहीं संभाल पाता हूँ :

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरो में
वेदना असीम गरजती ?
मानव सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कलकल ध्वनि में हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है विकल क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती, बिलखाती सी
पगिली से देती फेरी ।
क्यों व्यथित व्योम गंगा सी
छिटकाकर दोनो छोरें,

चेतना तरंगिणि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें ?

प्रसाद जी की इन पंक्तियों ने हिन्दी जगत् को प्रथम बार उस वेदना-वाद की मादकता से विभोर किया जिससे बाद में सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा था। वेदना की भयंकर बाढ़ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसाद जी के इन 'आंसुओं' में रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास में वास्तव में अतुलनीय है।

'आंसू' में प्रसाद जी ने अपनी विकल वेदना से अभिसिंचित प्रेम की विस्मृत बातों को पुनः स्मृति में लाते हुए जो 'करुणा-कलित' गान गाया है पूर्व पदों में उनकी उच्छ्वसित फेनिलता अत्यन्त मार्मिकता से छलक उठी है। अपने चित्त-गगन के नीलम-निभ असीम प्याले को अपने अव्यक्त प्रिय पात्र के प्रति उमड़े हुए स्नेह-रस से लबालब भरने के बाद जब कवि सहसा अपने उस चिर-पूरित प्याले को एक दिन रिक्त पाता है, तब उस रिक्तता-जनित सूनेपन की वेदना से उसकी सारी आत्मा ओत-प्रोत हो जाती है ! 'आंसू' के कण-कण से वेदना बरबस ढुलक-ढुलक पड़ती है।

'आंसू' का अरण्य-रोदन केवल इसलिये नहीं है कि प्रेमरस से भरी जीवन की प्याली खाली हो गयी ! सब से अधिक दुःख कवि को इस बात का है कि काल का क्रूर चक्र मानव-सागर के तट पर अभिनव तथा अलौकिक रस-रंग में निमग्न प्राणों को अकूल समुद्र में बहाकर अनन्त शून्य में छोड़ कर चला गया :

नाविक, इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया,
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया ?
प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिन्ह न शेष रहा है,
डूबा है हृदय मरुस्थल

आँसू नद उमड़ रहा है !
 अवकाश शून्य फैला है,
 है शक्ति न और सहारा
 अपदार्थ तिरुंगा में क्या,
 हो भी कुछ कूल-किनारा ?

अज्ञात, असीम सागर की विस्तृत लोल-लहरियाँ के उत्ताल तरंगा-
 भिषात में मनोनौका के टकरा जाने पर जो उदास हाहाकार प्रसाद जी के
 आँसू-भरे पदों में व्यक्त हुआ है, उसकी पुराध्वनि हम फ्रेंच कवि लामार्टीन
 की 'ले लाक' (सरोवर) शीर्षक कविता में पाते हैं। लामार्टीन चिरविरह
 की भावना से विकल होकर लिखता है :

“हाय, समय ईर्ष्यापरायण है ! हे अनंत ! हे काल के गहन
 तामसिक गह्वर ! तुम हमारे आनन्द के जिन क्षणों को निगल जाते हो
 उन्हें लेकर तुम क्या करते हो ? कहो, क्या तुम मेरी उन पवित्र
 पुलकानुभूतियों को नहीं फेंकोगे जिन्हें तुम चुरा ले गये हो ? हे सरोवर !
 हे स्तब्ध पापाण ! गहन अरण्य ! हे भुवनमोहिनी, मायाविन प्रकृति
 देवी के अनुचरो ! कम से कम आज रात के लिये मेरे विगत आनंद के
 दिनों की मधुर स्मृति को तो जागरित रहने दो ! हाय, वह मंजुल पवन,
 जो मंद मंद प्रवाहित हो रहा है, यह नरकुल, जो आहें भर रहा है, यह भीनी
 भीनी स्निग्ध सुगंधि, जो सारे वातावरण को आमोदित किए हुए है, जो
 कुछ भी मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, निःश्वास द्वारा ग्रहण कर रहा हूँ
 सब यही कहते हुए जान पड़ते हैं कि वे लोग प्यार कर चुके !”

प्यार कर चुके ! अब वह प्यार कभी नहीं लौटेगा, और न विरही
 प्रेमिक ही अब प्रत्यावर्तन के पथ से होकर अपने अतीत के नीड़ में वापस
 जा सकेगा, क्योंकि अब “पद-चिन्ह न शेष रहा है !” और

निर्मोह काल के काले
 पट पर कुछ अस्फुट लेखा
 सब लिखी पढ़ी रह जाती

सुख दुःखमय जीवन रेखा !
 दुःख सुख में उठता गिरता
 संसार तिरोहित होगा !
 मुड़कर न कभी देखेगा
 किस-किसका अनहित होगा !

इस अनंत विश्व की चिर-संसरणीय लीला निर्मम काल के काले पट पर सुख दुःखमय जीवन की चिह्नरेखा को स्मृति रूप में भले ही छोड़ जाय, पर जिस वास्तविकता को वह काल की गति के साथ ढो ले जाती है वह फिर कभी नहीं लौटती। 'आंसू' का दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है !

विस्मृति की निद्रा में उसका स्वप्न लौट कर आ सकता है, पर वह स्वयं सजीव और संप्राण रूप में नहीं आ सकती। प्रसाद जी के 'आंसू' में चिदानंदमय मिलन के खोने की वेदना के साथ साथ स्वप्न की सान्त्वना भी पाई जाती है, पर लामार्तीन की तरह उस सान्त्वना से कवि को स्वयं तोष नहीं होता। कारण यह है कि वास्तविकता वास्तविकता ही है और स्वप्न स्वप्न।

प्रसाद जी के 'आंसू' से लामार्तीन की 'सरोवर' शीर्षक कविता का मैं जितना ही मिलान करता हूँ, उन दोनों में भावों का आश्चर्यजनक साम्य पाकर उतना ही चकित होता हूँ। प्रसादजी ने निश्चय ही लामार्तीन की कविता नहीं पढ़ी थी, दोनों अपने अपने जीवन के निजी अनुभवों से एक ही अनुभूति पर पहुँचे थे !

'आंसू' के बाद प्रसादजी की 'लहर' हमारे सामने आती है। यह लहर उनके अतल मानस की गहराई से उठी है। मानस की यह गहराई कैसी है ?

ओ री मानस की गहराई !
 तू सुप्त शांत, कितनी शीतल—
 निर्वात मेघ व्योम पूरित जल !
 नव मुकुर नीलमणि फलक अमल

ओ पारदर्शिका ! चिर-चंचल,
 यह विश्व बना है परछाई !
 तेरा विषाद-द्रव तरल तरल
 मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
 सुख लहर उठा री सरल सरल,
 लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल !
 तू हँस, जीवन की सुवराई !
 ओ री मानस की गहराई !

इसी लघु सुन्दर, अविरल, सरल लहर की धारा तरल विषाद-द्रव के
 मधुर सम्मिश्रण के साथ 'लहर' की कविताओं में उमड़ चली है। प्रारंभिक
 कविता में इस लहर का चित्रण किंचित् विशद रूप से किया गया है :

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
 करुणा की नव अंगड़ाई सी,
 मलयानिल की परछाई सी,
 इस सूखे तट पर छिटक छहर !
 शीतल कोमल चिरकंपन सी,
 दुर्ललित हठीले बचपन सी,
 तू लौट कहां जाती है री
 यह खेल खेल से ठहर ठहर ?
 उठ उठ, गिर गिर, फिर फिर आती,
 नर्तित पद-चिन्ह बना जाती,
 सिकता की रेखायें उभार
 भर जाती अपनी तरल सिहर !
 तू भूल न री पंकज वन में,
 जीवन के इस सूनेपन में,
 ओ प्यार-पुलक से भरी दुलक,
 आ चूम पुलिन के विरस अधर !

यह लहर कुछ दूसरे ही ढंग की है ! इसकी अठखेलियों में वह इठलाने का भाव, वह नृत्योल्लास, वह बंकिम तरंगिमा, वह चपल भंगिमा, वह मरोर, सौ सौ छन्दों में स्वच्छन्द थिरकने की वह सुंदर कला नहीं पाई जाती, जो हम पंत जी के 'पल्लव' वाले 'वीचि-विलास' में पाते हैं । प्रसाद जी की इस लहर में पाया जाता है जीवन के दीर्घ अनुभव के श्रम से श्रान्त पथिक के सुने विश्राम तट पर करुणा की नव अंगड़ाई के साथ लघु-लघु लोल-गति से छहरने का भाव ! पंतजी के 'वीचि-विलास' में नवयोनोन्माद है, और इसमें है श्लथ करुणा का अलस वेदन । इसकी अपनी एक निजी और निराली विशेषता है । 'लहर' की सब कविताओं में आसन्न जीवन-संध्या का करुण विपाद किसी रहस्यमयी गुरु गंभीर छाया से आवृत है ! 'लहर'-युग के प्रसादजी को हम जीवन और मृत्यु के उस संगम स्थल पर पहुँचा हुआ पाते हैं, जहाँ कवि विपुल श्यामल पृथ्वी के छोर पर खड़ा होकर विशाल जलधि के नील अंक में निस्सीम व्योम की प्रतिच्छाया देख रहा है, और रवीन्द्रनाथ की तरह कहता है :

ए नहे मुखर वन-मर्मर-गुञ्जित,
ए जे अजागर गरजे सागर फूलिछे !

“यह मुखर वन का मर्मर गुञ्जन नहीं है, यहां तो विराट अजगर की फुफकार की तरह सागर का उच्छ्वसित गर्जन सुनाई देता है ।”

जीवन-मरण के इस संगम के सम्बन्ध में कवि कहता है :

हे सागर संगम अरुण नील !
अतलांत महागंभीर जलधि—
तजकर अपनी यह नियत अवधि,
लहरों के भीषण हासों में,
युग युग की मधुर कामना के
बंधन को देता जहां ढील !
हे सागर-संगम अरुण नील !

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि केवल जीवन-लहरी के

फेनिलोच्छ्वास मे ही क्रीड़ा करना नहीं चाहता, वह उसके उद्गम की तह तक गोता लगाने के लिये उत्सुक है। इस संगम तट से कवि जब इस पार की ओर निहार कर विगत जीवन के स्मृति मंथन से आंदोलित हो उठता है, तो एक विचित्र सृष्टि-सौंदर्य की भांकी उसके मन में उदित हो जाती है और उसकी कल्पना कूक उठती है :

श्यामा सृष्टि युवती थी
तारक खचित नील पट परिधान था।
अखिल अनंत में
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियां
ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी !
हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा !
सृष्टि के रहस्य सी परखने को मुझे
तारकाएं भांकती थीं !
शत शत दिलों की
प्रमुदित मधुर गंध भीनी भीनी रोम में
बहाती लावण्य-धारा ।

कवि की इस कल्पना में विगत उल्लसित जीवन की स्मृति-छाया का तरलाभास स्पष्ट झलक रहा है। पर जब वह पीछे की ओर से मुंह मोड़कर सामने उस पार के अनंत प्रसार की ओर देखता है, तो एक अव्यक्त विषादमय हाहाकार से उसका हृदय हहर उठता है। पीछे की स्मृति और आगे की विस्मृति उसे जब अत्यंत विकल करने लगती है, तो वह एक मार्मिक दार्शनिकता से संतोष प्राप्त करना चाहता है :

सागर लहरों सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन,
जल-वैभव है सीमा-विहीन
बह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार;

मुझको न मिला रे कभी प्यार !
पागल रे ! वह मिलता है कब ?
उसको तो देते ही हैं सब,
आंसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है श्रृण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार ?

अंतिम पंक्तियों में अतल नैराश्य-भरी करुण वेदना व्यंजित हुई है । उसकी तुलना वसुधा के अंचल पर टकराने वाली उन सागर-लहरियों के युगयुगांत व्यापी कल-क्रन्दन से की जा सकती है, जो पृथ्वी में कभी अपनी प्रीति का प्रतिदान नहीं मांगती और अविरल रोदन को ही अपने उद्देश्य की सार्थकता समझती है !

मानवात्मा के निष्काम प्रेम की चिरकरुण मर्मध्वनि उक्त पदों में फूट पड़ी है ।

प्रसाद जी के झरने में 'आंखू' की बूँदें छहर कर जिस सागरसंगमोन्मुखी 'लहर' में मिलकर एकाकार हुई हैं वे 'कामायनी' के महासागर में जाकर विलीन हो गई हैं । इस महासागर में केवल प्रसाद जी की ही अन्य रचनाएँ नहीं समा गयी हैं, बल्कि छायावादी युग के प्रायः सभी कवियों की काव्य-सरिता-धाराएँ इसकी अतलव्यापी गंभीरता में जैसे विलीन हो गई हैं । 'कामायनी' को पढ़ने के बाद प्रसाद जी की सब रचनाएँ अत्यन्त फीकी और हलकी जान पड़ने लगती हैं । मैं व्यक्तिगत रूप से 'कामायनी' को छायावाद युग की चीज नहीं समझता हूँ, क्योंकि प्रारंभ के छायावादी कवियों ने, जिनके आचार्य स्वयं प्रसाद जी थे, जिस सीमित और अहंगत अन्तर्वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मगत भावना का परिचय दिया, 'कामायनी' के कवि ने पूरी शक्ति से उसका विरोध किया है । 'कामायनी' हिन्दी जगत् का सब से पहला और सब से सुन्दर प्रगतिशील काव्य है । इस काव्य में कवि ने जीवन की गहराई में पैठकर वर्तमान युग की समस्त

प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तियों का पर्दाफाश ऐसे सुन्दर काव्यपूर्ण और नाटकीय ढंग से किया है कि कोई भी अनुभूतिशील व्यक्ति उसे पढ़कर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसा बोध होने लगता है कि कवि जैसे जीवन और मृत्यु की सब शक्तियों से परिचित हो चुका है और उन शक्तियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करके उन्हें एक-एक करके काव्य के अन्तर्जगत् के विशाल प्रांगण में तीर की तरह फाँटे के साथ फेंक रहा है। उसके एक एक तीर के संबन्ध में हम उसी की भाषा में कह सकते हैं :

अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब

यह छूट पड़ा है विषम तीर,

किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ?

‘कामायनी’ के सम्बन्ध में मेरी यही धारणा है कि उसकी रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनन्द और चिरअजर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्भ्यतापूर्ण दुर्दम आकांक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकट-संकुल गिरि-पथों और जटिल-जाल-जड़ित गहन अरण्यों में घोर अंधकाराच्छन्न कराल रात्रियों का सामना करना पड़ता है उनके संघात की वेदना ‘कामायनी’ में बिजली की तरह चमकती और उसी की तरह कड़कती हुई बोल उठी है।

आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा उच्च स्वार्थ से प्राणोदित भले ही हो, पर है वह स्वार्थ ही। सामान्य रूप से सभी मनुष्यों में और विशेष रूप से प्रतिभाशाली पुरुषों में यह प्रवृत्ति जड़ पकड़े रहती है, पर उस जड़ के पास ही एक दूसरी प्रवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण बीज पनपने की व्याकुलता व्यक्त करता रहता है। वह है विश्व-मानवात्मा के अनंत प्रेम सागर में अपने को विलीन कर देने की प्रवृत्ति। इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष का धूम्रोद्गार अपने विश्व-कुहर से आत्म-गगन को छा देने का प्रयत्न करता रहता है, और इस क्रिया-चक्र में नियति-नटी के इन्द्रजाल की निर्मम क्रीड़ा चला करती है। जब जल-प्रलय के बाद सृष्टि में क्रांति की उथल-पुथल मच जाने पर मनु

अपनी अंतरंग प्रतिभा की सहज स्फूर्ति से मानवीय सृष्टि के लिये प्रेरित हुए और इस उद्देश्य से श्रद्धारूपिणी कामायनी के साथ संबन्ध स्थापित करने में समर्थ हुए तो वह भी आत्मोत्कर्ष और आत्मत्याग इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष के शिकार बने और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप वह आर्तभाव से पुकार उठे :

इस विश्वकुहर में इन्द्रजाल

किसने रचकर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत् नखतमाल
सागर की भीषणतम तरंग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को समीत,
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत ?
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी ?
उसका अधिपति होगा कोई जिस तक दुख की न पुकार गई
सुख नीड़ों को घेरे रहता अवरित विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल ?

...

...

...

जीवन निशीथ के अंधकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार,
जिसमें अपूर्ण लालसा कसक चिनगारी सी उठती पुकार,
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूमकर सब दिगन्त,
मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त,
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार,
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार !

जीवन निशीथ के इसी अंधकार के बारे में फ्रेंच कवि वित्तर हूगो ने अपनी 'ला देस्तिने' शोषक कविता में लिखा है : "मैं, जिसे कि लोग कवि कहते हैं, नीरव निशीथ के गहन तमसाच्छन्न और अनंत रहस्यपूर्ण सोपान की तरह हूँ। मेरे उस तमोजाल-पूर्ण सोपान मार्ग के चक्रवाल में छायानदी अपने नेत्र गहरों को विदारित किए रहती है !"

‘कामायनी’ की सारी कविता में इसी माया-कुहेलिका के अंधकार-मय पर्दे को भेद कर मुक्त प्रकाशमय जीवन-लोक में प्रवेश करने की आकांक्षा प्रतिध्वनित हुई है। संकीर्ण अहम् के जटिल जाल की उलझन से मुक्ति पाकर विश्व के उदार प्रसार में उतर और सामूहिक मानव के उत्कर्ष रूपी महायज्ञ में सबके साथ समान रूप से हाथ बटाने का आदर्श प्रसाद जी ने इस काव्य में निर्देशित किया है।

मनु की प्रतिभा आत्म विलास की स्वार्थगत भावना से प्रसूत होती है। श्रद्धा के संयोग से मनु की आत्मा में उसके हृदय की संवेदनात्मक छाया पड़ती है। पर चूँकि इस छाया से मनु के आत्मोत्कर्ष की सुख-साधना में बाधा पहुँचती है, इसलिये श्रद्धा को मनु त्याग देते हैं। इसके बाद इड़ा के सहयोग से उनके अंतर में बुद्धि का तर्कजाल प्रसारित होने लगता है। आत्मोत्कर्ष की प्रवृत्ति, समवेदनशीलता, भावना और बुद्धि की तार्किकता ये तीनों मनुष्य की महाशक्तियाँ हैं। पर जब ये शक्तियाँ एक दूसरे से विच्छिन्न होकर परस्पर विरोधी रूप में अपने-अपने ऐकांतिक विकास में रत होती हैं तो वे विश्व-नियम में घोर वैपम्य, द्वंद्व और अशांति उत्पन्न करती हैं और जब ये तीनों एक रूप में मिलित होकर पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्व की मूल शक्ति के साथ एकप्राण हो जाती है तो विश्व के चरम कल्याण में सहायक सिद्ध होती हैं।

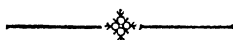
मनु अपने मन की अंधशक्तियों के अनेक घात-प्रतिघातों के बाद अंत में इस महासत्य को समझ गये थे। बुद्धि की तार्किक छुरी द्वारा क्षत-विक्षत हुए अपने जीवन में उन्होंने श्रद्धा को फिर से वरण कर लिया और वरण करते ही उन्हें अनुभव हुआ कि :

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल;
तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन,
वह रजत-गौर उज्ज्वल जीवन,

आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल !

कामायनी और इड़ा (श्रद्धा और बुद्धि) का मंगलमय सहयोग प्राप्त करके मनु समरसता के उदार प्रेममय सागर में डुबकियां लगाने लगे ।

हमें खेद है कि 'कामायनी' के सागर की एक साधारण सी लहर से भी हम पाठकों को परिचित न करा सके । वास्तव में इस महासागर की पूर्ण भांकी इस लेख में देना असंभव है । इस अमूल्य रचना में प्रसादजी ने मानवात्मा की विभिन्न प्रवृत्तियों के घात प्रतिघातों का परिचय जिस नाटकीय निपुणता से दिया है वह गेटे की विश्वविख्यात रचना 'फाउस्ट' से टकर लेती है । विरोधी प्रवृत्तियों के सामंजस्य का महान् आदर्श 'कामायनी' के कवि ने जिस सुन्दरता से परिष्कृत किया है उससे वह 'फाउस्ट' के कवि के सम-आसन तक आसानी से पहुँच गया है ।



कामायनी

‘कामायनी’ के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य जगत् में प्रथम बार एक ऐसा काव्य प्रकाशित हुआ जो विश्व काव्य कहे जाने की विशिष्टता रखता है। मेरी इस उक्ति से साहित्यालोचकगण कहीं भ्रम में न पड़ जायें। मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में आज तक जितनी भी कविता-पुस्तकें निकली हैं वे विश्व साहित्य में स्थान पाने योग्य नहीं हैं। बल्कि मेरी धारणा ठीक इसके विपरीत है। मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों की अनेकानेक स्फुट कविताएं इतनी उच्च कोटि की हैं जो विश्व साहित्य के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कविताओं से टकर ले सकती हैं। पर साथ ही इस बात पर भी मैं जोर देना चाहता हूँ कि हमारे वर्तमान साहित्य में अभी तक एक भी काव्य ऐसा नहीं रचा गया था जो वास्तव में विश्व काव्य कहा जा सके। विश्व काव्य से मेरा आशय ऐसे काव्य से है जो आरम्भ से अन्त तक जीवन से संबंधित एक केन्द्रगत विषय पर लिखे जाने के साथ ही इस विराट विश्व के अन्तरतम प्रदेश में निहित चिरन्तन रहस्य की चिरविकासोन्मुखी सर्जना की संघर्ष-विघर्षमय चक्रप्रगति की अभिव्यंजना से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के काव्यों तथा नाट्य-ग्रन्थों की कमी नहीं है, पर हमारे यहां अभी तक इसका अभाव अखर रहा था। प्रसाद जी की ‘कामायनी’ ने इस अभाव को गहन भावों की अजस्र रसधारा से भर दिया है।

हिन्दी में महाकाव्य तथा खंडकाव्यों की कमी नहीं है, पर तुलसीदास की रामायण को छोड़कर हम और किसी भी ऐसे वृहत काव्य को विश्व साहित्य के पारखियों के आगे पेश नहीं कर सकते थे, जिसके सम्बन्ध में हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते कि उसमें भी इस विश्वकुहर के इन्द्रजाल का मायावी पट कला की अंतर्विदारिणी तथा मर्म-भेदिनी लुरिका से आर पार

चीर डाला गया है, अथवा उसमें निखिल को उद्भासित करने वाले अमर आलोक का निरंजनाभास अपूर्व निपुणता के साथ अभिव्यंजित हुआ है।

‘कामायनी’ की रचना मानवात्मा की उस चिरंतन पुकार को लेकर हुई है जो मानव मन में आदि काल से जड़ीभूत अंध तमिस्रपुंज का विदारण कर जीवन के नव नव वैचित्र्यपूर्ण आलोक पथों से होते हुए अंत में चिर-अमर आनंदाभास के अन्वेषण की आकांक्षा से व्याकुल है। ‘काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक रस’ शीर्षक एक लेख में मैं इस बात पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुका हूँ कि रूपकात्मक काव्यों की विशेषता क्या है, उसका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है और उसका महत्व किस बात पर है। रूपकात्मक कथानकों अथवा भावधाराओं में कवि अपने प्राणों के स्पन्दन का संचार कर, उन्हें शाश्वत वास्तविकता का अक्षय स्वरूप प्रदान कर, उनके द्वारा अमर सत्य का आभास अत्यधिक कलात्मक रूप से प्रस्फुटित कर सकता है। मिल्टन ने ‘पैरेडाइज लास्ट’ में, शेली ने ‘प्रामेथ्यूज अनबाउन्ड’ में, गेटे ने ‘फौस्ट’ में इसी कारण रूपकात्मक शैली का अनुसरण किया है। महाकाव्यों तथा काव्यात्मक नाटकों के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, उच्च कोटि की स्फुट कविताओं के संबंध में भी वही बात लागू है।

पर आजकल के आलोचक यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि कोई रूपकात्मक अथवा छायात्मक रचना कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकती है और न वे इस बात का ही समर्थन करना चाहते हैं कि गहन आध्यात्मिक भावों अथवा मानवात्मा सम्बन्धी रहस्यों के विश्लेषण से सम्बन्धित कोई रचना महत्वपूर्ण हो सकती है। वे व्यक्त के परे अव्यक्त का अस्तित्व किसी भी रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते, और हृदय की सत्ता को केवल उसके भौतिक रूप में मानते हैं, सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक रूप में नहीं। इसलिये हृदय के संघर्ष से पीड़ित मानवात्मा के अवरुद्ध गर्जन के विस्फूर्जन का तनिक भी महत्व उनके लिए नहीं है और न वे इस विषय पर रचे गए काव्यग्रन्थ को श्रेष्ठ कला का निदर्शन मान सकते हैं। यदि प्रसाद जी की ‘कामायनी’ का अविकल प्रतिरूप उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में प्रकाशित होता तो वे

वैश्व साहित्य के शीर्षस्थानीय कलाकारों में निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते। पर 'कामायनी' १९३७ में प्रकाशित हुई है, जब कि प्रथम महायुद्ध के बाद प्रतिक्रियात्मक विचारधारा की पंक्तिता विश्व के सभी राष्ट्रों में तूपीकृत हो उठी थी और उसकी सझायन भारत में भी बुरी तरह फैली थी, और साथ ही आने वाले दूसरे महायुद्ध का पूर्व गर्जन विश्व-आकाश में ऊँजने लगा था।

एक बात और है। अधीरता तथा अस्थिरता के इस युग में, जीवन के सब क्षेत्रों में समय समय पर क्षणिक मनोविनोद की उत्तेजक घूँटों द्वारा अंधर्षमय वास्तविक जीवन की कटुता को भूलने की आकांक्षा पाई जाती है और लोग किसी भी विषय पर धैर्य तथा अध्यवसाय द्वारा मनन करने का ऋष्ट उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसीलिये छोटी छोटी कहानियों तथा छोटी छोटी कविताओं की मांग पत्र-साहित्य में बहुत बढ़ रही है। ऐसी हालत में, जब कि किसी बड़ी कविता को देख कर ही लोग घबरा उठते हैं, 'कामायनी' जैसे बृहत् काव्य को, जिसमें आकार की दीर्घता के साथ ही रसों तथा भावों की गहनता भी भरी पड़ी हो, पूर्ण अध्ययनपूर्वक पढ़ने का ऋष्ट कितने आलोचक उठाने को तैयार होंगे, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

पर इन सब निराशाजनक कारणों से 'कामायनी' का महत्व न घटकर बृहत्तर तथा महत्तर रूप में प्रकट होता है। असल बात यह है कि शताब्दी चाहे उन्नीसवीं हो, चाहे बीसवीं, चाहे इक्कीसवीं, किसी विशेष युग की विचारधारा समुन्नत व्यापक जीवन संबंधी तथा रूपकात्मक कला के लिए चाहे कैसी ही प्रतिकूल तथा प्रतिक्रियात्मक क्यों न हो, इससे उसके मर्म में निहित महत्वपूर्ण सत्य पर तनिक भी आंच नहीं आ सकती। वह सदा सूर्य की तरह ही प्रज्वल रहेगी, भले ही युग का प्रकोप उसे श्रावण के मेघों की तरह कुछ काल के लिए निबिड़ रूप से आच्छादित कर दे।

इतनी भूमिका लिखने का मेरा यह उद्देश्य है कि 'कामायनी' की विश्लेषणात्मक आलोचना के पहले मैं यह घोषित करने की परम आवश्यकता महसूस करता हूँ कि 'कामायनी' का प्रकाशन हिन्दी काव्य साहित्य के

इतिहास में कितनी महत्वपूर्ण घटना है। साथ ही यह भी दिखाना मैंने उचित समझा है कि किन प्रतिक्रियात्मक तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में 'कामायनी' का जन्म हुआ है, क्योंकि वे परिस्थितियाँ किसी भी उच्चकोटि की कलात्मक रचना के लिये क्षय रोग के अदृश्य कीटाणुओं की तरह घातक सिद्ध हो रही हैं।

'कामायनी' के रहस्यमय, रूपकात्मक रंगमंच का उद्घाटन एक वैचित्र्यपूर्ण तथा अपूर्व रोमांचकर नाटकीय वातावरण में होता है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इस विश्व में मानवीय सृष्टि के पहले दैवी संस्कृति की धोर अहम्न्यता के दारुण रूप का प्रबल प्रकोप दिक्दिगन्तर में फैला हुआ था। निःसीम अहंभाव का वह अप्रतिहत अनाचार, अनवरत आत्मतोषण की वह आकण्ठ-उच्छलित परिपूर्णता मूल प्रकृति के अनादि नियमों के प्रतिकूल है। इसलिये देवों ने आत्मविलास की चरितार्थता के लिए जिस स्वर्ण संसार का निर्माण किया था वह रुद्र के रोष से भीषण प्रलय प्रवाह में बह चला। इस निखिल-लयकारी जल-प्लावन में मनु की नौका दुस्तर वेग का अतिक्रमण करती हुई उत्तर की ओर चली गई और अन्त में, प्लावन का प्रवेग उतार में आने पर, हिमवान पर्वत पर आ लगी। यहां से 'कामायनी' का आख्यान प्रारम्भ होता है :

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान,
नीरवता सी शिला चरण-से टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान,
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का होता था सकरुण अवसान।

इस प्रकार नीचे प्रलय-जल और ऊपर दीर्घविस्तृत हिमानी की स्तब्धता के बीच, सन्नाटे में बैठा हुआ वह तरुण तपस्वी अपने विलासोन्मत्त

भूतकालिक जीवन की मोहान्धता, प्रलय-प्रवाहित वर्तमान जीवन की लोमहर्षक शून्यता तथा अन्धकारमय भावी जीवन की रहस्यमयी अनिश्चितता पर विचार कर रहा था। चिन्ता को संबोधित करते हुए वह कहता है :

ओ चिन्ता की पहली रेखा ! अरी विश्ववन की व्याली !
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली !
हे अभाव की चपल बालिके, री लालाट की खल लेखा !
हरी भरी सी दौड़ धूप, ओ जल माया की चल रेखा !
इस ग्रह-कक्षा की हलचल री, तरल गरल की लघु लहरी !
जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली बहरी !
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी, अरी आधि ! मधुमय अभिशाप !

इत्यादिक पंक्तियों के एक विशेष गतिशील छन्द-प्रवाह द्वारा एक ऐसा अपूर्व वातावरण कवि हमारी अन्तरिन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित करता है जो इस 'नाट्यात्मक' काव्य के अन्तर-रहस्य की सांकेतिक सूचना प्रारम्भ से ही हमको देने लगता है।

आगे की पंक्तियों से मनु का जो तत्कालीन मनोद्वेग व्यक्त होता है वह हमारी आंखों के आगे एक ऐसा मायामय दृश्यपट खड़ा करता है जो और भी अधिक सूचनात्मक है। पंक्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि नमूने के तौर पर कुछ को यहां पर उद्धृत करने का लोभ संभाला नहीं जा सकता :

मणिदीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य !
देवदम्भ के महामेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य !
अरे अमरता के चमकिले पुतले ! तेरे वे जयनाद—
कांप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद ।
वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ? स्वप्न रहा या छलना थी ?
देव सृष्टि की सुख विभावरी ताराओं की कलना थी ।
चलते थे सुरभित अंचल से जीवन के मधुमय निःश्वास ।
कोलाहल में मुखरित होता देव-जाति का सुख विश्वास ।
कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती, अरुण किरण सी चारों ओर ।

सत सिंधु के तरल कणों में द्रुम-दल में आनन्द विभोर ।
 सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना,
 छायापथ में नव तुपार का सघन मिलन होता जितना ।
 भरी वासना सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह !
 प्रलय-जलधि में, संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह ।

इन पंक्तियों को हमने केवल उनकी सुन्दरता के लिये ही उद्धृत नहीं किया है । इनका महत्व इस बात पर भी है कि मनु के इस मर्यादित मानसोद्गार से सृष्टि में क्रान्ति की एक निश्चित धारा का सूत्रपात हुआ और मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक विपमता के जिस संघर्ष-विघर्षमय चक्र-संघूर्णन से आज प्रपीड़ित है उसका मूल कारण भी मनु की पूर्वोल्लिखित चिन्ताधारा ही है । अखंड ऐश्वर्य सम्भोग के अप्रतिहत आत्मोल्लास में, तरल अनल की अविरल प्रज्वलता की तरह, चिन्ता की धूम्ररेखा का लेश भी नहीं रह सकता । देवलोक में वेदना की अनुभूति अणु परिमाण में भी वर्तमान न रहने से अमिश्रित सुख का निरन्तर पुंजीभूत तुपार-संघात सृष्टि की छाती पर पापाण भार की तरह पड़ा हुआ था । अपनी 'स्वर्ग हइते विदाय' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ने इस निर्वेदन सुख के सम्बन्ध में कहा है:

शोकहीन
 हृदिहीन सुखस्वर्गभूमि उदासीन
 चेये आछे । अश्वत्थ शाखार
 प्रान्त हते खसि गेले जीर्णतम पाता
 जतटुकु बाजे, तार ततटुकु व्यथा
 स्वर्गे नाहि जागे—जवे मोरा शतशत
 गहज्युत हतज्योति नक्षत्रेर मतो
 मुहूर्ते खसिया पड़ि देवलोक हते
 धरित्रीर अन्तहीन जन्ममृत्यु सोते ।

“सुखस्वर्गभूमि शोकहीन, हृदयहीन तथा उदासीन होकर देख रही है । अश्वत्थ की शाखा से जब एक जीर्ण पत्ता भी नीचे गिरता है तो वह जितना

पीड़ित होता है उतनी व्यथा भी स्वर्ग में कोई अनुभव नहीं करता—जब हम लोग गृहच्युत, हतज्योति नक्षत्रों के समान एक मुहूर्त्त में स्वर्ग से गिरकर धरित्री के अनन्त जन्म मृत्यु स्रोत में बहने लगते हैं !”

इस निर्विचित्र तथा निश्चल पाषाणता के प्रति जब सृष्टि की अन्तरात्मा में विद्रोह का अन्तर्नाद उपस्थित हुआ तो उसके फलस्वरूप मनु के हृदय से जो मर्मोद्गार निर्गत हुआ उसी ने मानवात्मा की चिरन्तन वेदनामयी अनुभूति की प्रथम सूचना दी। इस वेदना बोध से यद्यपि मानव-प्राण विध्वस्त, प्रपीड़ित तथा उद्वेलित है, तथापि उसकी सजल गतिशीलता पतित-पावनी जाह्नवी की निरन्तर प्रवाहित पुण्यधारा की तरह उसकी स्थूलता को ज्वालित करती हुई उसके अणु अणु में मंगलरूपी वैचित्र्य-शालिनी कविता का पुलकप्लावन हिल्लोलित करती रहती है :

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान ।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान ।

इसलिये मानव-जीवन की ट्रेजेडी का कारण उसकी वेदनात्मक अनुभूति नहीं है। इसका मूल कारण है मनुष्य में अवशिष्ट ‘देवत्व’ का संस्कार। मनु देवताओं से बिलुङ्गने तथा मन में उनके प्रति विद्रोह का भाव रखने पर भी अपने देव-संस्कारों को समूल उखाड़ नहीं सके थे, और देवों से एक पूर्णतः विभिन्न अर्थात् मानवीय सृष्टि की आकांक्षा मन में रखते हुए भी आत्मविलास की स्वार्थमयी वासना का दम्भाभास उनकी आत्मा में वर्तमान था। इसलिये श्रद्धा के संयोग से उनके अन्तस्तल में सुख-दुख-मयी वेदानुभूति का अनन्त वैचित्र्यपूर्ण पुलक प्रवाह तरंगित होने पर भी वह निखिल मंगलकारिणी आनन्दधारा में निर्मुक्त वेग से, अबाध गति से अपने को प्रवाहित नहीं कर पाये। आत्मवृत्ति की ऐकान्तिक संकीर्णता का वासनावरोध उन्हें अपनी मानवीय प्रजा के सार्वजनिक कल्याण के प्रति उदासीन बना कर उनके भीतर केवल अपनेपन के निरन्तर-वर्धित स्वार्थ की अंध सुखाकांक्षा के सर्वभक्षी अनल को उद्दीपित करता चला गया।

एक ओर अहंभाव के संकीर्ण कुण्ड का प्रज्वलित प्रदाह, दूसरी ओर निखिल विश्व में प्रेम विस्तार की करुण वेदनाशील कामना की निर्मुक्त उड़ान—मनु की इन दो द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों का संस्कार उनकी मानव-सन्तान में भी पूर्ण मात्रा में वर्तमान पाया जाता है ।

महाकवि गेटे के विश्व-विख्यात रूपकात्मक नाट्य काव्य 'फौस्ट' की आलोचना करते हुए कार्लाइल ने एक स्थान पर फौस्ट की अशान्ति के मूल कारण का वर्णन करते हुए लिखा है: "फौस्ट समझता है कि वह संसार के अन्यान्य मानवप्राणियों के साथ होने पर भी उनमें से नहीं है । अर्थात् उनसे उनका कोई संबंध नहीं है । दर्प तथा अनियन्त्रित (किन्तु गुप्त) आत्म-प्रेम उसके चरित्र की गति के प्रधान उत्स हैं । ज्ञान का आदर वह इसलिए करता है कि उसे वह शक्ति का मूल सूत्र मानता है; परमार्थ से वह इसलिए प्रेम करता है कि वह उसे भी एक उच्चकोटि की इन्द्रियपरायणता समझता है, और साथ ही यह अनुभव करता है कि वह उसकी 'निजी' अनुभूति है । इस प्रकार की प्रकृति का मनुष्य चाहे कहीं जाय, वह फिर-फिर अपने को एक आपेक्षिक जगत् में पायेगा । वह अपनी अनुभूति के क्षेत्र को चाहे किसी परिमाण में विस्तृत करे, किन्तु फिर-फिर वह उसे अभाव के साम्राज्य से घिरा हुआ पायेगा । उसकी मानसी सृष्टि का आनन्दोज्ज्वल दीप फिर जीवन-निशीथ के चिर पुरातन अन्धकार राज्य का एक तुच्छतम खंड सा जान पड़ेगा ।"

देवत्व से छिन्न मनु की अशान्त, अधीर तथा अस्थिर मानसिकता चिरन्तन मानव की इसी व्याकुलता का रूपक है, जिसका चित्रण गेटे ने फौस्ट के चरित्र में किया है । फौस्ट की आत्मा में देवत्व के संस्कार समधिक रूप में वर्तमान थे और वह विश्व की सब विभूतियों को केवल अपनी अनियन्त्रित आत्मवृत्ति के साधन के रूप में प्राप्त करना चाहता था । पर चूँकि वह देव नहीं, मनुष्य था, इसलिये अनेक रूपों में सुखसाधनों से भरपूर होने पर भी वह अपनी आत्मा में एक विश्वग्रासी अभाव की महाशून्यता का अनुभव किया करता था । प्रकृति ने मनुष्य को इस विराट्

अभाव को भरने के लिए एक अमोघ साधन प्रदान किया है। वह है सर्वभूतों में अपने को और अपने में सर्वभूतों को निमज्जित करने की अनुभूति का अनुशीलन। पर मनु और फौस्ट ने, जो मानवीय प्रतिभा के विकास की प्रखरता के रूपक स्वरूप हैं, इस परम तत्व को नहीं समझा। मनु के परम संकट काल में उन्हें श्रद्धा मिल गई थी, जिसकी निखिल मंगलकारिणी स्नेह-धारा की पावन सरसता पाकर वह जीवन के गहन वन में आलोक की सुगम पथ-रेखा देख सके थे। पर वह ऐसे मोहान्ध हो गये थे कि श्रद्धा से भी अपने ऐकांतिक सुख की स्वार्थमयी साधना की सहायता चाहने लगे। श्रद्धा मनु को बार बार समझाती रही कि :

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा !

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा।

सुख को सीमित कर अपने में केवल दुख छोड़ोगे।

इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब सौरभ बन्दी कर लें।

सरस न हो मकरंद बिन्दु से खुल कर तो ये मर लें।

सुख अपने सन्तोष के लिए संग्रह मूल नहीं है।

उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखे अन्य वही है।

पर मनु की आँखें नहीं खुलीं। वह निखिल प्रकृति के मूल रहस्य के केन्द्र बिन्दु में अपने को स्थिर रखकर अपनी मंगलमयी प्रतिभा के पराग की सुरभि समस्त विश्व में विकीरित करना नहीं चाहते थे। वह अनन्त जीवन के अनन्त वैचित्र्य का रस लोभी भ्रमर की तरह पान करके आत्मोन्नति की स्वार्थमयी सुख-साधना के उद्देश्य से निरंतर आंदोलित रहना चाहते थे:

स्थिर मुक्ति प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की।

मैं तो अबाध-गति मरुत सदृश हूँ चाह रहा अपने मन की।

जो चूम चला जाता अगजग, प्रति पग में कंपन की तरंग।

वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

टेनिसन के युलिसीज़ की तरह वह जीवन-रस की अशान्त, अतृप्त, ज्वालाभरी अभिलाषा के दुरतिक्रम्य मरीचिका-पथ में आगे, आगे और आगे

बढ़े चले जाना चाहते हैं। यह अनन्त पिपासामयी आकांक्षा आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की स्वार्थान्ध कर्मोन्मत्तता-जनित रक्तशोषी तृषा का उपयुक्त रूपक है। इस प्रकार की मोह लालसा का स्वाभाविक परिणाम निखिलग्रासी काल रात्रि के विकराल अंधकार का आवाहन है। कार्लाइल वर्णित वही “अंधकारमयी मोहनिशा का चिरपुरातन साम्राज्य” इस प्रकार की अकल्याणी दुराशा को घेरे बिना नहीं रह सकता। मनु भी इस घनाच्छन्न तामसिकता की भयंकरता का अनुभव किए बिना नहीं रह पाते:

जीवन निशीथ के अन्धकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नवज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन - शिशु की क्रीड़ा-नौकाएं बस दौड़ लगाती हैं अनंत
कुहुकिनि, अपलक दृग के अंजन ! हँसती तुझ में सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव कलना
इस चिर-प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार ।

श्रद्धा—कल्याणीया कामायनी—की अनन्त करुणामयी, अविरल स्नेह-रसमयी, विपुल मंगल-अभिषेकमयी, स्निग्ध शान्तिमयी प्रीति के सलज तथा सजल उपहार को ठुकराकर जब मनु उच्छृङ्खल तथा उद्दाम आकांक्षा की मोह तरंग में बहने लगे तो अपनी मानव-प्रजा-सृष्टि के लिए उन्होंने चिरकालीन अभिशाप प्राप्त किया। इस अज्ञात तथा रहस्यमय अभिशाप के पीड़न का अनुभव मानवजाति क्या प्राचीनतम युग से वर्तमान समय तक नहीं करती आई है ? नाना द्वन्द्व, संघर्ष, विशृंखला, असामंजस्य, वैमनस्य तथा विरोध के चक्रजाल से मानव-संसार ऐसे जकड़ा हुआ है कि यहां संभलता है तो वहां उलझता है। मिल्टन ने भी अपने ‘पैरेडाइज़ लास्ट’ में आदम और हौवा के लालसासक्ति-जनित पतन से सारे मानव-समाज पर जो अभिशाप आरोपित करवाया है उसका भी मूल कारण आदि मानव-प्रकृति की मोहान्धता ही है।

इस अभिशाप के वज्रकोप से जब मनु स्तब्ध तथा विभ्रान्त अवस्था में निश्चल बैठे रहे तो अकस्मात् एक ज्योतिर्मयी प्रतिमा की हेमवती छाया उनकी आंखों के आगे भासमान हुई। निखिलव्यापी तमोजाल की जड़ता में अरुण किरणों की कलित कांति से चैतन्य का स्फुरण करने वाली यह संजीवित प्रतिमा थी इड़ा, जो मूर्तिमती बुद्धि थी। श्रद्धा के विसर्जन के साथ ही सरल मधुर विश्वास, सरस प्रेम तथा शुचि-स्निग्ध समवेदना के भावों को तिलांजलि देकर मनु इड़ा के बुद्धि-वैभव को पूर्णतया अपनाकर विज्ञान की अशेष कर्ममयी, विपुल चक्रमयी, प्रचण्ड संघूर्णमयी ज्वाला को गले की माला बनाकर, उनकी लपटों को दिग्विदिक् विकीरित करने के महासमारोह में अत्यन्त उल्लासपूर्वक लग गये ! विज्ञान प्रणोदित यह सर्वशोषी, अतृप्त कर्मतृष्णा की आग जहां एक ओर आत्मप्रसूत भस्मराशि को स्तूपीकृति करके जड़ जगत के भौतिक वैभव का निर्माण करती है, वहां मानव-जगत् की मंगलमयी पुण्य पीयूषधारा का स्रोत एकदम सुखा देती है। मनु के जीवन में इस ज्वाला का वही स्वाभाविक परिणाम सिद्ध होकर रहा।

पौराणिक आख्यान में इड़ा को मनु की यज्ञ-जनित दुहिता कहा गया है। रूपक की दृष्टि से इड़ा—अर्थात् बुद्धि—मनुष्य की आत्मज विभूति है, जिसकी उत्पत्ति उसकी चिर जिज्ञासु मनोवृत्ति की अज्ञात अन्तर्साधना द्वारा हुई है। यदि इस परम शक्तिशालिनी विभूति को निःस्वार्थ तथा अनासक्त भाव से अपनाकर, हृदय के सरस तथा समवेदनशील भावों के संयोग से अभिषिक्त करके सुसंचालित किया जाय तो उससे सर्वभूतों की विपुल हितसाधना हो सकती है और साथ ही मानव-समाज में संघर्ष की दुर्धर्षता के बदले सामंजस्य की स्निग्ध शांति का सुन्दर संचार हो सकता है। पर सभ्य मानव ने वैज्ञानिक बुद्धि को घोर स्वार्थ तथा संसक्ति के साथ अपनाकर, अपनी इस मानवप्रसूत आत्मजा के साथ मानो अत्यन्त जघन्यतापूर्वक व्यभिचार—बलिक बलात्कार—किया है, और हृदय की कोमल-कमनीय वृत्तियों के सुमधुर विश्वास-परायण समवेदनात्मक भावों को पैरों तले कुचल डाला है। यह ठीक उसी तरह हुआ है जिस प्रकार मनु ने श्रद्धा-विश्वास-

रूपिणी, मंगल-मधु-धारा-वर्षिणी कामायनी की अवज्ञा करके उन्मत्त लालसा-प्रज्वालनी, अशेष-कर्म-चक्रिणी, अनंत अतृप्ति-प्रदायिनी बुद्धिरूपिणी इडा को अपने कर्मयज्ञ की प्रधान पुरोहित बनाकर अंत में उसके साथ बलात्कार किया ।

यह बलात्कार स्वार्थमुखान्वेपी मनु की आसक्ति की पराकाष्ठा थी । इसके फलस्वरूप मनु के आत्मसृष्ट प्रजातन्त्र में विद्रोह की दावाग्नि का भड़कना स्वाभाविक था । पर मनु इस विद्रोह से तनिक भी विचरत न हुए । उनकी अधिकारोन्मत्त उच्छृङ्खलता इस हद तक बढ़ गई थी कि वह अपने अत्याचारों की दुर्धर्पता को सहज स्वाभाविकता समझ रहे थे । वह सोच रहे थे कि उन्होंने अपनी प्रजा को समुचित विधि-विधान तथा नियमानुशासन के बंधन में बांधकर और यथोचित वर्णविभाग में विभक्त करके अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है, पर वे नियम स्वयं उनके लिए लागू नहीं हो सकते, क्योंकि वह 'डिक्टेटर' हैं, और उच्छृङ्खलता की आनन्द तरंगों में निर्मुक्त गति से बढ़ने के पूरे अधिकारी हैं :

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूं मैं ?
क्या अधिकार नहीं कभी अविनीत रहूं मैं ?
विश्व एक बन्धनविहीन परिवर्तन तो है,
इसकी गति में रवि शशि तारे ये सब जो हैं—
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती !
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर ।
जीवन में अभिशप, शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि कुंज हो रहा हरा है ।
मैं चिर बन्धनहीन मृत्यु सीमा उल्लंघन
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण ।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना ।

इस प्रकार सारा आख्यान आधुनिक बुद्धिवादी सभ्यता के कुटिल चक्र के अत्यन्त सुन्दर रूपक के रूप में हमारे सामने आता है। यद्यपि यह कवि का गौण उद्देश्य है, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य तो मानव जाति की चिरन्तन संघर्ष-विघर्षमयी वेदना की मूल भावधारा का परिप्लवित प्रवाह प्रदर्शित करके उसे शाश्वत मंगल की ओर प्रेरित करना है। कोरी बुद्धि द्वारा प्रसूत वर्तमान जड़वादात्मक विज्ञान ने मानव समाज को शतधा विच्छिन्न तथा विभक्त करके उसमें नाना संघर्षों तथा द्वन्द्वों की अशान्ति उत्पन्न कर दी है। प्रभुत्ववादियों की इस भयंकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने साधारण जनसमूह में विद्रोह के भाव भर दिए हैं, पर नियमानुशासन चलानेवाले उच्छृङ्खल विश्वनेतागण स्वयं किसी नियम का नियन्त्रण मनने को तैयार न होकर चारों ओर दमन, अत्याचार तथा रक्तपात का चक्र चला रहे हैं।

इस अन्तरराष्ट्रीय अशान्ति तथा विश्वव्यापी भूल भ्रान्ति के दूरीकरण का केवल एक ही सच्चा उपाय है—बुद्धि और श्रद्धा का सुमंगल सहयोग। केवल-मात्र हृदय के करुण-कोमल समवेदनात्मक तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्ण भावों से विश्व का चिर प्रगतिशील चक्र संचालित तथा नियमित नहीं हो सकता, और न कोरी बुद्धि की अनवरुद्ध तथा अनियन्त्रित वेगशीलता ही विश्व में स्थायी कल्याण की प्रतिष्ठा करने में समर्थ होती है। ‘कामायनी’ के कवि का केन्द्रगत सन्देश यही है। यह सन्देश श्रद्धा के निम्न मर्मोद्गार द्वारा भलीभांति प्रकट होता है, जिसे उसने अपने प्रिय पुत्र को मनु से विच्छिन्न, भ्रान्ति से विच्युत इड़ा के हाथों सौंपते हुए व्यक्त किया था:

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप-निचय हर ले, हो मानव-भाग्य उदय;
सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।

अपने इस अन्तिम त्यागमय महान सन्देश के बाद कामायनी दोनों को छोड़कर चली जाती है। काव्य की वास्तविक समाप्ति यहीं पर हो जानी चाहिए थी, क्योंकि उसकी नाट्यात्मक अभिव्यक्ति इस स्थान पर पराकाष्ठा

को प्राप्त हो जाती है। यहां पर अन्तिम यवनिका पड़ जाने से काव्य के नाटकीय अन्त का चरम सौंदर्य प्रस्फुटित हो उठता। पर कवि को शायद नाटकीय सौंदर्य की अपेक्षा पूर्णानन्दमयी मांगलिक परिणति दिखाना अधिक अभीष्ट था, इसलिये उसने श्रद्धा, इड़ा, मनु तथा मानव—चारों का मिलन पुण्य प्रशान्त मानस-प्रदेश में संघटित कराके समरसता के स्निग्ध-मधुर आनन्द की पीयूषवर्षा से सबको अभिषिक्त किया है।

सारे काव्य को आदि से अन्त तक मननपूर्वक पढ़ जाने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि सारी रचना एक महान् आदर्श के मूल भाव से ओत-प्रोत है। शाश्वत सत्य की चिर-पुरातन धारा के आधार पर कवि ने एक ऐसे सुन्दर रूपक का निर्माण अत्यन्त मनोरम रूप से किया है जो आधुनिक सभ्यता की संघर्षमयी विषमता और वर्तमान संसार के प्रभुत्ववादी युग में फैली हुई विद्रोहात्मक अशांति के भीषण चक्रजाल का यथार्थ निदर्शन कराता है और साथ ही हमें इस सर्वनाशी विषमता के परे उठाकर समरसता के पुण्य प्रकाश का अमरपथ प्रदर्शित कराता है।

यदि आदर्श पर विचार न कर कोरी कला की दृष्टि से हम इस रचना को देखें तो भी उसकी श्रेष्ठता में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। प्रसाद जी इस काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र अपने उन्नततम तथा चरम रूप में प्रकट हुए हैं। भाव, भाषा तथा छन्द-संगीत की अपूर्व मनोरमता, नाटकीय निपुणता तथा सुसंयत सामंजस्य के सम्मिलित चमत्कार ने 'कामायनी' में जादू की माया का सा प्रभाव दिखाया है। प्रसाद जी की अन्य सब कृतियां यदि किसी कारण से विलीन हो जायें (भगवान न करे कभी ऐसा हो) और केवल 'कामायनी' शेष रह जाय तो भी वह चिरकाल तक हिन्दी जगत में—वर्लिक विश्व साहित्य संसार में—अमर होकर रहेंगे, यह बात बिना किसी द्विविधा के कही जा सकती है।



प्रसादजी का कथा-साहित्य और 'कंकाल'

प्रसाद जी यद्यपि प्रधानतः कवि थे, तथापि उन्होंने साहित्य के किसी भी अंग को नहीं छोड़ा। काव्य, नाटक, उपन्यास, छोटी कहानियाँ, साहित्यिक निबन्ध आदि सभी विषयों में उन्होंने अपनी कुशलता का परिचय दिया है।

फिर भी कथात्मक साहित्य में उन्हें उपन्यासों की अपेक्षा छोटी कहानियों में अधिक सफलता मिली है। प्रसाद जी प्रधानतः कवि थे, इसलिए अपनी जिन रचनाओं में वे काव्यात्मक भावना अधिक परिष्कृत करने की ओर प्रयत्नशील रहे हैं उनमें एक अपूर्व मोहक सुन्दरता भरने में सफल हुए हैं, और जिनमें वह जीवन के यथार्थ की ओर अधिक झुके हैं उनमें उन्हें उतनी सफलता नहीं मिल पायी। छोटी कहानियों में वे अधिकतर विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा काव्यात्मक वेदना के प्रस्फुटन की ओर ही प्रवृत्त रहे हैं। पर उपन्यासों में, विशेषकर 'कंकाल' में, उनका ध्यान रोग-शोक, दुःख-दैन्य और पाप-ताप से पीड़ित मानव-प्राणियों के संघर्षमय और कटु यथार्थ से क्लिष्ट जीवन के चित्रण की ओर अधिक रहा है। अतएव इस उपन्यास में एक ओर उनके कवि को कुंठित हो जाना पड़ा है और दूसरी ओर उनकी यथार्थवादिता सुसामंजस्यपूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पायी है। तथापि इन उपन्यासों का अपना निजी महत्त्व है।

'कंकाल' हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। एक-दो को छोड़ कर इसके सभी पात्र और पात्रियाँ जारज संतान हैं, और फलतः समाज द्वारा निष्कासित, बहिष्कृत और प्रताड़ित हैं। इसमें कोई एक विशेष नायक या कोई विशेष नायिका नहीं है। कभी पात्र-पात्रियों का एक विशेष जोड़ा नायक-नायिका के रूप में हमारे सामने आता है, कभी दूसरा। इस प्रकार के कई जोड़े बीच-बीच में आविर्भूत होकर बारी-बारी

से प्रधान अभिनय करते चले जाते हैं। ये विभिन्न जोड़े बीच-बीच में एक-दूसरे के घनिष्ठ संपर्क में भी आते रहते हैं और फिर लंबे अरसे के लिए बिछुड़ कर, कुछ दैनिक घटना-चक्रों के फलस्वरूप नयी और विचित्र परिस्थितियों में एक-दूसरे से मिल जाते हैं।

दैवी या संयोगिक घटना-चक्रों से सारा उपन्यास भरा पड़ा है। उपन्यास का प्रारंभ ही इसी प्रकार की एक संयोगिक घटना से होता है। प्रयाग में माघी अमावस्या के अवसर पर अमृतसर से आये हुए दो स्नानार्थी, श्रीचंद और उनकी पत्नी किशोरी, गङ्गा के तट पर भूँसी में एक महात्मा के दर्शन करने गये। वह 'महात्मा' संयोग से किशोरी का बाल्यसाथी निकल आया। उसका नाम देवनिरंजन था। जब किशोरी ने उसे अपना नाम बताया तो उसे यह संदेह हो गया कि वह वही किशोरी है जिससे आठ वर्ष की अवस्था में बिछुड़ने के बाद वह पहली बार आज, अप्रत्याशित रूप से, गंगा-यमुना के संगम पर मिला है। किशोरी उसे अभी नहीं पहचान पायी थी। देवनिरंजन के मन में द्वन्द्व उठा और वह उसी दिन प्रयाग से हरिद्वार चला गया।

किशोरी उस महात्मा से अत्यंत प्रभावित हो चुकी थी इसलिए उसने अपने पति श्रीचंद को हरिद्वार चलने के लिए राजी किया। वहाँ निरंजन इन्हें मिल गया।

श्रीचंद अपने व्यवसाय के काम से अमृतसर लौट गये और किशोरी को नौकर के साथ हरिद्वार ही छोड़ गये। किशोरी को पता लग गया कि महात्मा उसका बाल्यकाल का साथी निरंजन है। दोनों में घनिष्टता हो गयी। नौकर के बार-बार पत्र लिखने पर कई महीने बाद किशोरी के पति श्रीचंद हरिद्वार आये। किशोरी विवशता से निरंजन का साथ छोड़ने को तैयार हुई। तब तक वह गर्भवती हो चुकी थी, अर्थात् एक जारज संतान को जन्म देने की तैयारी कर रही थी।

हरिद्वार में उनका परिचय एक स्त्री से हुआ जिसने विधवा होने पर भी तारा नाम की एक लड़की को जन्म दिया था। लड़की जब पन्द्रह वर्ष

की हुई तो वह भीड़ में खो गयी। तारा को कोई एक दूसरी स्त्री भगा ले गयी।

ये सब घटनाएँ पहले ही परिच्छेद के अंतर्गत वर्णित हैं। इसके बाद दूसरे परिच्छेदों में भी पहले परिच्छेद की ही तरह उपन्यासकार घटना पर घटना का वर्णन करता चला जाता है और नयी नयी परिस्थितियों में नये-नये पात्र-पात्रियों की अवतारणा करता चला जाता है। ये सब नये पात्र-पात्रियाँ जारज संतानें या पथ-भ्रष्टा स्त्रियाँ होती हैं।

प्रसाद जी ने अपने इस उपन्यास में मनोभावों के चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया है। विविध पात्रों और पात्रियों के अंतर्द्वन्द्वों के विश्लेषण की उन्होंने पूर्ण उपेक्षा की है। केवल दैवी घटनाचक्रों, और संयोगों को अपना आधार बनाते हुए वे कहानी को आगे बढ़ाते रहे हैं। पात्र-पात्रियों के बीच कथनोपकथन उनकी ऊसरी मनोभावनाओं को समझने में थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य पहुँचाता है, पर उनके भीतरी मनोभावों की तीव्रता, उनके भीतर उठने वाले तूफानों और विद्रोही भावनाओं का तनिक भी आभास देने का प्रयास प्रसादजी ने नहीं किया है। जो पात्र उन्होंने चुने हैं उनके भीतर भीषण अंतर्द्वन्द्वों का चक्र चलना और भयंकर आँधियों का उठना अत्यंत स्वाभाविक हैं, और कोई भी प्रतिभाशाली लेखक इस सुयोग को यों ही नहीं जाने देना चाहेगा। प्रसाद जी ने अपने लिए इस सुयोग के उपकरण तो जुटाये, पर उसका पूरा उपयोग करने से उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। यह इसलिए नहीं कि उनमें मानव मन के उन तूफानी चक्रों के वर्णन और विश्लेषण की समर्थता नहीं थी। उनमें समर्थता थी और बहुत बड़ी योग्यता थी। जो कवि 'कामायनी' में मनु के भीषण अंतर्द्वन्द्वों के चित्रण में आश्चर्यजनक रूपसे सफल रहा है उसकी अंतर्भाव-विश्लेषिणी प्रतिभा पर संदेह नहीं किया जा सकता। फिर भी आश्चर्य ही है कि 'कंकाल' का कोई भी पात्र उन्हें मनोविश्लेषण के योग्य नहीं जँचा, कोई भी परिस्थिति गंभीर वातावरण उत्पन्न करने योग्य नहीं मालूम हुई।

इसका एक कारण शायद यह है कि मनु के अतिमानुषी भावोद्वेलन में और 'कंकाल' के अतिसाधारण—और अप-साधारण—पात्र-पात्रियों के

तूफानी आवेगों के स्वरूपों में जमीन आसमान का अंतर है। साधारण जीवन के संघर्ष से पीड़ित पात्र-पात्रियों के भाव-चक्रों के विश्लेषण की कला का क्षेत्र कुछ दूसरा ही है, जिसकी ओर आधुनिक भारतीय महाकवियों का झुकाव बहुत कम पाया जाता है। पाश्चात्य महाकवि इस कला में केवल दक्ष ही नहीं रहे हैं, बल्कि उसके महत्त्व को भी वे भली-भाँति महसूस करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी महाकवि वित्तर हूगो को ही लीजिये। हूगो का क्षेत्र यद्यपि प्रधानतः काव्य था, तथापि उसने कई उपन्यास भी लिखे हैं, जो विश्वविख्यात हो चुके हैं। उनमें 'ले मिजेराब्ल' सबसे अधिक प्रसिद्धिप्राप्त है। इस उपन्यास में हूगो ने समाज के उन्हीं दलित, अभिशप्त और अभागों पात्रों को लिया है, जिनके प्रति 'कंकाल' में प्रसादजी ने अपनी समवेदना का परिचय दिया है। पर हूगो ने केवल घटना-चक्रों के वर्णनों तथा वार्तालाप तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है, बल्कि प्रत्येक पात्र के मानसिक संघर्ष का चित्रण परिपूर्ण मनोविश्लेषण के साथ किया है। हूगो जानता था कि अंतर्जीवन के विश्लेषणात्मक प्रस्फुटन के बिना वाह्य जीवन की परिस्थितियाँ कोई स्थायी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

ऐसा लगता है कि 'कंकाल' लिखते समय प्रसाद जी का उद्देश्य पाठकों के मन में भावनात्मक वेदना जगाने का उतना नहीं था जितना समाज के लिए एक विद्रोहात्मक वातावरण द्वारा आदर्शात्मक संदर्भ उपस्थित करने का। इस उपन्यास में उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने उस समय एक प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाया जब हिन्दी में केवल धीरोदात्त नायक को ही उपन्यास का नायक और सती-साध्वी स्त्रियों को ही नायिका निरूपित करने का रिवाज था। प्रसादजी ने न तो कोई धीरोदात्त नायक चुना, न कोई सती-साध्वी नायिका। चट्टान की तरह दृढ़-चरित्र और आदर्शवादी पात्रों की भी उन्होंने उपेक्षा की। उन्होंने केवल ऐसे पात्र-पात्रियों को चुना जो केवल समाज से बहिष्कृत व्यक्तियों की ही जारज-संतान नहीं थे, बल्कि जो सद्भावना-पूर्ण होने पर भी बहुत दुर्बल और दुर्लभ स्वभाव के थे।

रही है। विज्ञान भी अपने विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा सृष्टि के प्रयोजन के मूल केन्द्र से व्युत्पन्न होकर लक्ष्यहीन अवस्था में निरुद्देश्य भटकता फिर रहा है। पर कला की प्रवृत्ति केन्द्रोन्मुख (centripetal) है। विज्ञान पुरुष है और कला नारी। नारी मूल सत्ता के केन्द्र को अनन्तकाल से जकड़े है। उसकी प्रकृति सत्तात्मक (concrete) है। पर पुरुष-प्रकृति छायात्मक (abstract) है। कला प्रकृति के समस्त सुन्दर छायात्मक भावों को भी अपने माध्याकर्षण के बल से अपनी ओर खींचकर उन्हें मूल सत्ता की ओर केन्द्रीभूत करने की चेष्टा में लगी रहती है। वह कवि के कथनानुसार—

Gives to airy nothing

A local habitation and a name.

अर्थात् वह एक हवाई कल्पना को भी नाम और रूप की निश्चित सीमा-रेखाओं में बाँध लेती है। पर विज्ञान ठीक इसके विपरीत चलता है।

प्रेमचंद जी ने पुरुष-प्रवृत्ति के रहस्य का परिचय अवश्य प्राप्त किया है, पर मूल प्रकृति जो नारी है उसकी आत्मा के भीतर उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली है। राष्ट्र-विजय की वीरता घोषित करने वाली दुर्दुभी प्रेमचंद जी ने बजाई है। वीर राजपूत योद्धाओं की कहानियों से वह सदा प्रणोदित हुए हैं। प्रबल अध्यवसाय और पौरुष द्वारा समस्त विरोधी शक्तियों की अवश करके वीरत्व की अक्षय कीर्ति प्राप्त करने का मंत्र उन्होंने पाठकों के कानों में सदा ध्वनित किया है। अस्त्र-शस्त्र की झनकार और दंगे-हमले के बीच में अपने नायकों को खड़ा कराने में उन्हें विशेष सुख प्राप्त हुआ है। उनके नायक अनेक दुर्बलताओं का सामना करते हुए भी किसी अनिश्चित, छायात्मक आदर्श के पीछे मर मिटते हैं। कोई राष्ट्रीयता के पीछे पागल होता है, तो किसी को नैतिक निष्ठा की धुन होती है। अपने इन चरित्रों का चित्रण प्रेमचंद जी ने सुन्दर रूप से किया है, और जो भाव उन्होंने व्यक्त करना चाहा है, उसके निदर्शन में वह पूर्ण सफल रहे हैं। यह बात मैं कई बार स्वीकार कर चुका हूँ। विश्व के वाद्यचक्र के मैदान में उनके पुरुष-पात्र अनन्त कीर्ति के लिये लड़ते चले जाते हैं, यह

भाव अत्यंत सुन्दर है। पर इस चक्र के भीतर उसके अंतरतम के किसी कोने में जो अत्यंत सुकुमार भाव दबे पड़े हैं और बाहर न निकल सकने के कारण बिलखते, रोते हुए सृष्टि की मूलात्मा को विदीर्ण कर रहे हैं, उन्हें प्रेमचंद जी ने छुआ तक नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषत् में एक वाक्य है, जिसका भावार्थ यह है जब ब्रह्म ने अपने को दो भागों में विभक्त किया तो समस्त आकाश में नारीत्व का भाव व्याप्त हो गया। सृष्टि के मूल में यह जो सनातन नारी है उसके प्रति प्रेमचंद जी ने अवज्ञा प्रदर्शित की है। समस्त श्रेष्ठ कलाविदों ने नारीत्व के इस शाश्वत भाव को अपनाया है। असल बात यह है कि कला मुख्यतः इसी एक भाव के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसीलिये प्रत्येक कलाविद् का मुख्य ध्येय यही भाव प्रदर्शित करने का रहा है। जब हम रामायण पढ़ते हैं तो हमारा ध्यान समस्त पाठ में सीता के प्रति केन्द्रीभूत होकर रह जाता है। रामायण की असली कथा सीता-हरण से प्रारंभ होती है। इस घटना के बाद हम राम की विविध कार्रवाइयों का अनुसरण विशेषतः इस दृष्टि से करते हैं कि वह दुःखिनी सीता के उद्धार के लिये क्या-क्या उपाय काम में लाते हैं। राम ने रावण को मारा, इस घटना का वर्णन पढ़ कर हमें राम के वीरत्व का परिचय पाने से उतनी प्रसन्नता नहीं होती जितनी इस बात से कि सीता को मुक्ति मिली। रामायण में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश सीता-वनवास तथा सीता के पाताल-प्रवेश से संबंध रखने वाले हैं। उसी प्रकार महाभारत की सारी कथा का भारकेन्द्र द्रौपदी का चीर-हरण-उपाख्यान है। उसी प्रकार होमर का इलियड, सोफोक्लीज़, युरिपिडीज़ और शेक्सपीयर की ट्रेजेडियाँ, कालिदास का अभिज्ञान-शाकुन्तल, कुमार-संभव आदि रचनाएँ, टालस्टाय, डास्टाएव्सकी, गोर्की, शरत् और रवीन्द्रनाथ के उपन्यास आदि विश्व-साहित्य की प्रायः सभी महामान्य कलाकृतियाँ सनातन नारीत्व के प्राधान्य से ओत-प्रोत रही हैं। यहाँ पर पाठकगण संभवतः अधीर होकर मुझसे पूछना चाहेंगे कि “ये सब फ़िज़ूल की बातें क्यों लिखी जा रही हैं? इनसे तुम्हारा तात्पर्य क्या है? तुम क्या

यह कहना चाहते हो कि प्रेमचंदजी ने अपनी रचनाओं में स्त्री-चरित्रों की अवतारणा नहीं की ? स्त्रियों के सुख-दुःख, स्नेह-प्रेम और आशा-निराशा की कोई झलक नहीं दिखाई है ?” मैं इन प्रश्नों के उत्तर में नम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँगा कि मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं है। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि प्रेमचंद जी ने अपने स्त्री-चरित्रों को वैयक्तिक रूप नहीं दिया है। वे सब एक-एक मूर्त्तिमान (idea) ‘भाव’ मात्र हैं, जो विशेष-विशेष आदर्शों के काल्पनिक प्रतीक हैं। उनके सुख-दुःख उनकी अन्तरात्मा से स्फुरित नहीं हुए हैं, वे बाह्य चक्रों की कृत्रिम योजना से उत्पन्न हुए हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद जी के उपन्यासों की दुनिया हमारी महिलाओं को एकदम विजातीय और कष्ट-कल्पित मालूम होती है। विजातीय लेखक टाल्सटाय का संसार उन्हें एक स्वदेशी लेखक द्वारा निर्मित संसार से अधिक परिचित सा लगता है। इसका क्या कारण है ?

मानव-मनोवेदना की यथार्थता से परिचित रसज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी कि प्रेमचंदजी की राष्ट्रीय भावनाओं से भाराक्रान्त रचनाओं में नारी के सत्तात्मक सुख-दुःख की अवहेलना की गई है। पर टाल्सटाय की अन्ना, किटी, आदि चरित्रों में नारी-हृदय की निगूढ़ वेदनाओं का अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रतिबिम्ब आश्चर्यजनक सजीवता के साथ झलकता हुआ पाया जाता है। मानव-हृदय सर्वत्र समान है। यूरोपियन उपन्यासकारों ने नारी की अन्तर्वृत्तियों के मंथन से वास्तविक सत्तात्मक वेदना का प्रस्फुटन ऐसे सहज और स्वाभाविक रूप में किया है कि किसी भी देश की नारी उसके स्पन्दन का अनुभव अपने भीतर कर सकती है और वातावरण की विजातीयता उसकी अनुभूति में किसी प्रकार की बाधा डालने में असमर्थ सिद्ध होती है।

प्रेमचंदजी के उपन्यासों में एक मूलगत दोष यह रहा है उन्हें कि किसी रचना के लिये आभ्यन्तरिक अनुभूति से नहीं बल्कि जीवन के बाह्य चक्रों से प्रेरणा प्राप्त हुई है। विश्व-साहित्य के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यासकार ने जीवन के बाह्यचक्रों की अवहेलना नहीं की है, पर इन बाह्यचक्रों को वे अपनी

रचनाओं की इमारतों के लिये केवल ईंट-पत्थर, काठ, सीमेंट, गारे और चूने के तौर पर काम में लाए हैं। पर जिन मूलतत्त्वों की प्राण-प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने इमारतें खड़ी की हैं उनकी प्रेरणा उन्हें अपने अन्तर के अतल से प्राप्त हुई है।

जिस प्रकार अन्ना के चरित्र में टाल्सटाय की कला की मूल वेदना केन्द्रीभूत होती है, उसी प्रकार 'रंगभूमि' की सोफिया के चरित्र में प्रेमचंदजी की कला की विशेषता व्यक्त हो जाती है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि प्रेमचंद जी की कला पुरुष-प्रधान है। सोफिया के चरित्र में भी उनके अनजान में यही पौरुष-भाव आया है। सोफिया का हृदय मातृत्व की आँच से नहीं तपा है, इसलिये उसकी तीव्रता निष्प्राण और तेजहीन है। उसका सुख सत्ता-रहित है और उसका दुःख असत्य है। मातृ-हृदय का प्रस्फुटन केवल संतान होने से ही नहीं होता। अनेकों कुमारियों की सहज स्नेहाभिव्यक्ति से भी मातृ-हृदय की वेदना प्रकट होती है। इसके विपरीत संतान को जन्म देने पर भी बहुत-सी स्त्रियाँ मातृ-हृदय-हीन ही रह जाती हैं। सोफिया की सहानुभूति-मूलक प्रवृत्ति में नारी की सहज समवेदना का कोई आभास नहीं झलका है। वह काल्पनिक है। देश की दीन-दुःखी जनता पर सोफिया की जो सहानुभूति उमड़ती है वह उसकी शिक्षित बुद्धि की कष्ट-कल्पित भावुकता-मात्र है। सोफिया एक आकाशचारिणी पक्षी है, जो पृथ्वी के निवासियों पर दो-चार बूँद आँसू गिराने का शौक रखती है। वह भूमिचारिणी कपिला नहीं है, जो कण्टकों की वेदना को वास्तव में अपने शरीर में अनुभव करती है और मिट्टी के निवासियों को प्यार करके, उन पर अपनी स्निग्ध, वेदनाविकल और सकरुण, दृष्टि डालकर उन्हें स्तन्य-पान कराती है।

'रंगभूमि' की रानी जी के चरित्र से भी प्रेमचंद जी के एक विशेष कलात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। रानी जी का चरित्र पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे थियेटर के स्टेज में माता का पार्ट खेला जा रहा है और सभी पाठक यह अनुभव करने लगते हैं कि वास्तविक अन्तर्वेदना

से विह्वल होनेवाली हमारी स्नेहमयी माता रानी जी की दुनिया से किसी प्रकार भी संबंधित नहीं है। पर 'गोरा' की आनंदमयी का चरित्र पढ़िए। प्रत्येक पाठक अपने अन्तस्तल में यह अनुभव करने लगता है कि इस स्नेहशीला महिला की प्रकृति के भीतर उसकी अपनी माता के स्नेह-सुकुमल प्राणों का प्रतिबिंब वर्त्तमान है। कारण स्पष्ट है। रानी जी का हृदय राजनीति और समाजनीति से संबंध रखनेवाले वाह्यचक्रों से विकास-प्राप्त हुआ है—वह एक निष्प्राण 'आइडिया' मात्र है, और उसका आधार शून्य में है। पर आनन्दमयी का हृदय मानवीय रक्त से सींची जाने वाली अत्यंत सुकुमार वृत्तियों के प्राण-स्पर्दन से गठित है। उसका आधार निखिल जीवनदायिनी मिट्टी के गर्भ में स्थित है।

प्रेमचंद जी के उपन्यासों के अधिकांश नारी-चरित्र राष्ट्रीय कर्मभूमि में भाग लेने वाली कठपुतलियों के सिवा और कुछ नहीं हैं। इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने पर उनका जीवन सार्थक हो जाता है। पर रवीन्द्र ठाकुर के 'घरे-बाहरे' में एक ऐसा आदर्शवाद प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है जो प्रेमचंद जी के आदर्श से एकदम उलटा है। 'घरे-बाहरे' की विमला जब नयी उम्र के जोश में देश के छायात्मक स्वरूप के प्रति अपने हृदय में काल्पनिक प्रेम जागरित करने की चेष्टा करती है, और संदीप के संसर्ग से अनेक उलटे-सीधे चक्रों के फेर में पड़ती है, तब उसका परिचय एक सुकुमार बालक से होता है। इस बालक को देखकर जब उसका मातृ-हृदय उद्वेलित हो उठता है, तब उसे जीवन की वास्तविक सहज अनुभूति का आभास मिलता है। जब वह देखती है कि वह सुकुमार बालक अंध भावुकता के फेर में पड़कर एक हाथ में पिस्तौल और दूसरे हाथ में गीता की पुस्तक लिये हुए भारत को स्वतंत्र करने का स्वप्न देख रहा है, तो मातृस्नेह-जनित चिंता के कारण उसकी आंखों के आगे पोपली राजनीति के छायात्मक जीवन की अवास्तविकता स्पष्ट झलकने लगती है। वह लड़के के भविष्य के लिये व्याकुल होकर रो पड़ती है और आकाश की अस्पष्ट छाया से नीचे उतर कर ठोस धरातल पर पाँव रखती है, और इस प्रकार जीवन की वास्तविकता का परिचय पाती है। अब वह व्यक्ति की यथार्थ सत्ता को प्यार

करने लगती है। वह समझ जाती है कि व्यक्ति को लेकर ही राष्ट्र बना है। उसका पति निखिलेश इसी दिन की प्रतीक्षा कर रहा था।

कला का उद्देश्य चिरकाल से मानवात्मा की वैयक्तिक सत्ता के आधार पर सामूहिक सत्ता का प्रस्फुटन करना रहा है। जो इस सत्य को समझ गया है वही सच्चे अर्थ में समाजवादी है, अन्यथा सब ढोंग है। पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष केन्द्रातीत (Centrifugal) शक्ति के प्रति आकर्षित होकर विश्व-विजय की आकांक्षा करके बाह्य जगत् में अपनी कीर्ति प्रसारित करना चाहता है। पर स्त्री केन्द्रोन्मुखी शक्ति से प्रेरित होकर समस्त बाह्य शक्तियों को भीतर की ओर ले जाना चाहती है, और अपने हृदय के विस्तारहीन किन्तु अतल गंभीर क्षेत्र में ही परिपूर्णता प्राप्त करना चाहती है। पुरुष बहुधा अपनी शक्ति को बहुत आगे बढ़ाने के कारण न तो अनन्त का रहस्य पाने में समर्थ होता है, और न अन्त में ही संतोष प्राप्त कर सकता है; वह केवल छिन्न मेघ के समान शून्य में भटकता फिरता है। लेकिन नारी का क्षेत्र सीमित होने पर भी वह पूर्णता प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है। नेपोलियन विश्व-विजय की आकांक्षा से अपनी समस्त शक्ति बाह्य-चक्र में लगा देता है, और उस अनिश्चित चक्र का अन्त न पाकर अन्त में सेन्ट हेलेना के निर्वासन में दुर्गति को प्राप्त होता है। सेन्ट हेलेना के निर्वासन में नेपोलियन को बहुत-सी बातें सोचने का अवसर मिला था। उस एकांत चिंतन के फलस्वरूप उसने कहा था : “मैंने अपना सारा जीवन व्यर्थ की महत्वाकांक्षा में बिताया। जब तक मनुष्य को वैयक्तिक आत्मा की वेदना का रहस्य ज्ञात नहीं होगा, तब तक राष्ट्रीयता और विश्व-विजय सब निष्फल हैं।” पर उसकी चिर-दुःखिनी, स्नेह-परायणा स्त्री जोसेफीन केवल उसकी वैयक्तिक आत्मा का प्रेम प्राप्त करके ही सन्तुष्ट रहती है, और जब नेपोलियन अपनी महत्वाकांक्षा में बाधा पड़ते देख उसे त्याग देता है, तो वह अपने ऐकांतिक प्रेम की निष्फलता का उपादान लेकर अनन्त काल के लिये वियोग की नीरव अग्नि सुलगाती रहती है। राम और सीता का भी वही हाल रहा है। प्रेमचंद जी ने राम और नेपोलियन के ‘टाइप’ का चित्रण अत्यंत सुन्दरता पूर्वक किया है। उनको प्रतिभा का यह विशेष गुण असाधारण

है। पर अभागिनी सीता और दुखिनी जोजेफीन के स्निग्ध हृदय की अतल-व्यापी मार्मिक वेदना वह प्रस्फुटित नहीं कर पाए हैं।

प्रेमचंद जी की कला में मस्तिष्क का चमत्कार है, हृदय का नहीं। कहना नहीं होगा कि कला का मूल संबंध हृदय से है। मस्तिष्क की कल्पना हृदय की वेदनाओं को ठीक तरह से सँजोने में सहायता अवश्य देती है, पर यदि हम उस कल्पना को ही कला का मूल उपकरण मान बैठें, तो इससे बड़ी भूल और कोई नहीं हो सकती। मस्तिष्क की करामात जितनी अच्छी तरह से दिखलाई जा सकती है, प्रेमचंद जी ने दिखलाई है। पर जहां मानव-हृदय की सुकुमार भावनाओं, मानव-मन के जटिल-जाल-पूर्ण अन्तर्द्वन्द्वों के प्रस्फुटन का अवसर आया है, वहां उनकी कलम रुक गई है। प्रेमचंद जी के चरित्रों में सूरदास ने काफी ख्याति पायी है। वह सूरदास भी मस्तिष्क-प्रधान जीव है। हृदय की सरस स्निग्धता, स्वाभाविकता तथा सजीव व्यक्तित्व उसमें नहीं पाया जाता। कोरे तत्त्वों की आलोचना उसे भाती है और पण्डिताई उसे बहुत प्रिय है। वह किसी अत्याचारग्रस्त व्यक्ति के प्रति जो सहानुभूति प्रकट करता है वह हृदय से उमड़े हुए सहज स्नेह तथा करुणा के कारण नहीं, बल्कि मस्तिष्क की कल्पना के कारण। सहज स्नेह अयाचित आता है, पर सूरदास से वह अनेक वाद-विवाद के पश्चात्, अनेक तत्त्वोपदेशों के बाद प्राप्त होता है। वास्तव में सूरदास भी, प्रेमचंद जी के पायः सभी आदर्श-पात्रों की तरह, कोई रक्तमांस से निर्मित जीवित पात्र नहीं, बल्कि एक विशेष नैतिक आदर्श का मूर्तिमान प्रतीक है। जहाँ तक नैतिक आदर्श का संबंध है, प्रेमचंद जी का यह पात्र अपनी एक निजी विशिष्टता अवश्य रखता है, और उसके चरित्र का निर्वाह भी बड़े सुन्दर रूप से हुआ है। पर उपन्यास लेखक के लिये सबसे बड़ी बात यह होती है कि चाहे वह किसी भी सिद्धांत का प्रचार करे, किन्तु अपने पात्रों को सजीव और वैयक्तिक रूप देकर पाठकों के हृदय में रसानुभूति जगाने में सफलता प्राप्त कर सके। दुःख के साथ कहना पड़ता है, कि इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद जी असफल ही रहे। सूरदास कल्पित आदर्शों का कठपुतला है, वास्तविक जगत् का सजीव पात्र नहीं। 'गोदान' प्रकाशित होने के बाद ही प्रेमचंद जी के सब

नायकों को पीछे छोड़ गया है। होरी के चरित्र चित्रण से भी प्रेमचंद जी की कला का पुरुष-प्रधान रूप ही अधिक सुस्पष्ट होता है। फिर भी सूरदास में और होरी में बड़ा अन्तर है। होरी के चित्रण में प्रेमचंद जी ने उसके अन्तर्द्वन्द्वों का बहुत अच्छा दिग्दर्शन कराया है, और उसे सूरदास की तरह केवल एक प्रतीक न बनाकर, सजीव, वैयक्तिक रूप में चित्रित किया है। रसानुभूति काव्य का प्राण है। रस की धारा जब आत्मा की अनुभूति से उत्सारित होकर प्रवाहित होती है, तभी रसज्ञ पाठक के हृदय को स्पर्श करने में समर्थ होती है। पर जब वह लेखक के हृदय से नहीं, किंतु मस्तिष्क की कल्पना से निकलती है, तब वह केवल कोरे तत्वालोचकों को ही रुचिकर प्रतीत हो सकती है। प्रेमचंद जी की कला में स्थान-स्थान पर रसावेग अवश्य दृष्टिगोचर होता है, पर वह रसावेग भी कल्पना के दबाव से उत्पन्न होता है; वह उनका हृदयानुभूत जीवित सत्य नहीं है। यदि मुझसे कोई पूछे कि प्रेमचंद जी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ कौन हैं, तो मैं उत्तर दूँगा 'सौत', 'बड़े घर की बेटी' तथा इसी कोटि की अन्य कहानियाँ। इस कोटि की कहानियाँ वैयक्तिक आत्मा की वास्तविक सत्ता की वेदना के आधार पर स्थित हैं। 'सौत' में जिस नायिका का चरित्र अंकित किया गया है उसके हृदय की स्तब्ध वेदना प्रेमचंद जी ने अत्यंत सुन्दर रूप से दिखाई है। हमारे देश की दुःखिनी, कर्म-निरता, स्नेह-शीला, त्यागमयी, आत्मघातिनी स्त्रियों की मर्म-वेदना की ऐसी सहज, करुण तथा शान्त छवि मैंने अन्यत्र बहुत कम देखी है। इस छोटी-सी कहानी के भीतर अचल समुद्र का वह प्रशांत गांभीर्य छिपा है, जो उमड़ने पर 'रंगभूमि' के भीषण कोलाहल की प्रचंड अग्नि को एक मुहूर्त्त में बुझा सकता है। जब मैंने पहले पहल यह कहानी पढ़ी थी तब मेरी उम्र बहुत छोटी होने पर भी मुझे जो अपूर्व रसमिला था उसका यथार्थ वर्णन मैं कर नहीं सकता। अनिर्वचनीय पुलक के आँसुओं से मेरी आँखें डबडबा आई थीं और एक स्निग्ध, करुण विषाद रस से मेरा हृदय, आन्ध्र हो गया था। मैं तब एक अशोध बालक होने पर भी यह सोचकर फूला नहीं समाया कि हिन्दी संसार में भी एक ऐसा लेखक उत्पन्न हो गया है जो अपनी आत्मा की वास्तविक अनुभूति से पाठकों के हृदय में रस का

स्रोत उद्घेलित कर सकता है। तब तक मैं रवीन्द्र और शरत् की बहुत-सी कहानियाँ पढ़ चुका था और मेरे किशोर-हृदय में इस बात की प्रबल स्पर्धामूलक आकांक्षा जगी हुई थी कि हिन्दी में भी उन कहानियों के टकर की मौलिक कहानियाँ पढ़ने को मिलें। प्रेमचंद जी ने मेरी इस भावुक आकांक्षा की पूर्ति बहुत-कुछ अंशों में कर दी थी। जिस प्रकार के भावों का प्रस्फुटन प्रेमचंद जी की कहानियों में और 'सेवा-सदन' में हुआ है, यदि उन्हीं का विकास नियमित रूप से हुआ होता, तो वह वास्तव में अमूल्य साहित्यिक रत्नों की सृष्टि अपने पीछे छोड़ जाते। पर खेद है कि उन सुन्दर, सुकुमार और सहृदय भावों को उन्होंने जानकर या अनजान में जड़ में ही नष्ट कर देना चाहा। रस-रचना छोड़कर वह तत्वालोचन में लग गए।

संसार के कुछ विशिष्ट मनीषियों की यह राय है कि पुरुष की वृत्तियों का विकास अभी प्रारंभिक अवस्था से विशेष आगे नहीं बढ़ पाया है, अभी उसमें प्राथमिक बर्बरता के असंख्य चिह्न वर्तमान हैं। पर नारी-हृदय पूर्णता के बहुत निकट पहुँच चुका है। असल बात यह है कि नारी सृष्टि के प्रारंभ से ही पूर्ण है, यद्यपि उसका क्षेत्र सदा सीमित रहा है। पुरुष देशकाल के भेद से अपनी प्राथमिक वृत्तियों के ऊपर पालिश के नये-नये रंग चढ़ाता जाता है, और किसी एक विशेष रंग को पूर्ण रूप से अपनाने में असमर्थ रहता है। वह विज्ञान-चक्र में जाता है तो परिवर्तन की असीमता देखकर धक्के खाने लगता है, राजनीतिक चक्र में जाता है तो उसकी जटिलता में आवद्ध होकर जकड़ जाता है। युग से युगान्तर को वह अनिश्चित स्थिति में लड़खड़ाता चला जाता है। पर नारी अपनी समस्त शक्ति को संतान-प्रेम, समाज-सेवा, गृह-कर्त्तव्य आदि के निश्चित वृत्त में ही चिरकाल से केन्द्रित करती आई है। देशकाल के परिवर्तन से उसके स्वभाव में कोई विशेष महत्वपूर्ण, मूलगत, अन्तर नहीं आने पाता। वह चाहे आधुनिक रूसी नारी की तरह 'सेक्स' भावना से एकदम मुक्त ही क्यों न हो जाय, तथापि उसकी मूल मनोवृत्ति-निःस्वार्थ-सेवा-परायणता—में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दे सकता। हमारे देश की अधिकांश स्त्रियाँ यद्यपि आशिक्षिता हैं और सभा-समितियों में भाग नहीं ले सकतीं, तथापि उनके भीतर सेवा-भाव और आत्म-त्याग का

जो बीज छिपा हुआ है उसकी Potentiality (संभाव्य क्षमता) आश्चर्यजनक है। यदि इस बीज को समुचित रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाय तो उनकी सेवा परायणता केवल परिवार के भीतर ही सीमित न रहकर विश्व-मानव के ऊपर अपनी शीतल छाया का विस्तार करने में समर्थ हो सकती है। पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ अपने सुख-दुखों का यथार्थ रूप जनता के आगे रखने में समर्थ हैं, लड़-झगड़ कर अपने अधिकारों को प्राप्त करने की शक्ति उन्होंने पा ली है; पर हमारे देश की स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा उपेक्षित होकर अज्ञात रूप से अपने स्नेह-प्रेम का चक्र पूरा कर रही हैं, और फल-कामना से रहित होकर स्तब्ध भाव से अनंत की प्रतीक्षा में बैठी हैं। उनकी सामाजिक दुर्दशा के प्रति हमारी समा-समितियों में मौखिक सहानुभूति अवश्य प्रकट की जाती है, और यत्र-तत्र निबंधों में भी 'फैशनेबुल' शब्दों में उनका 'काज़' 'प्लीड' किया जाता है। पर उनके हृदय का गुप्त क्रन्दन किस तरह से उमड़-उमड़कर, रह-रहकर उच्छ्वसित हो रहा है, और धीरे-धीरे अपनी तरंगों को अज्ञात रूप से ईथर (ether) में प्रवाहित करता हुआ बिंदु-बिंदु करके महाकाश में संचित हो रहा है इसकी खबर कितने लोगों को है? नारी की इस मूल-शक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यथार्थ सर्जनात्मक साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

× × × × × ×

मैंने प्रेमचंद जी की रचनाओं के विश्लेषण द्वारा उन्हें खंड रूप से विभाजित करके ऊपर विचार नहीं किया है। उनकी कला के मूल में क्या है और वह किस आधार पर प्रतिष्ठित है, यही दिखलाने की चेष्टा मैंने की है। प्रेमचंद जी के खिलाफ बहुत-से आलोचकों ने तरह-तरह की बातें लिखी हैं। मैं उनमें से किसी की भी बात से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। अमुक रचना 'एटर्नल सिटी' की छाया है, अमुक रचना 'वेनीटी फेयर' की नकल है, इस प्रकार की लचर बातों को मैं अनावश्यक तथा महत्त्वहीन समझता हूँ। इस प्रकार की युक्तियों से प्रेमचंद जी को एक लुप्त नक़ल ठहराना अत्यन्त हास्यास्पद है। प्रेमचंद जी की प्रतिभा की व्यापकता का महत्त्व मैंने सदा मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य

की प्राण-प्रतिष्ठा की है। ऐयारी और तिलस्माती उपन्यासों की बाढ़ से हिन्दी-साहित्य का उद्धार करके उन्होंने जो महत् कार्य किया है वह इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा। उन्होंने साहित्य को नया जीवन दिया, नयी चेतना को उभारा है। उनकी इस महत् साहित्यिक साधना के प्रति मैं कभी अकृतज्ञ नहीं रहा। उनसे मेरा केवल कला संबंधी मतभेद रहा है, जो सदा वैसा ही बना रहेगा।



प्रेमचंदजी का व्यक्तित्व और साहित्य

प्रेमचन्द जी के आविर्भाव ने हिन्दी साहित्य में जिस नये युग की अवतारणा की थी उसके महत्व का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकना आज नयी पीढ़ी के साहित्यकारों के लिए संभव नहीं है। तब तक हिन्दी कथा-साहित्य बच्चों के खेल के साहित्य की स्थिति से होकर गुजर रहा था। जो लघुकथाएं (तब तक लघु-कथा के लिए हिन्दी में कोई शब्द ही नहीं था और बंगला शब्द 'गल्प' ही हिन्दी में भी बड़े धड़ल्ले से अपनाया जाता था) पत्र-पत्रिकाओं में छपती थीं, वे या तो बंगला से अनुवादित होती थीं या यदि किसी अंश में मौलिक होती थीं तो—अधिकांशतः—क्या शैली में, क्या भाव में और क्या भाषा में एकदम बचकानी लगती थीं। प्रेमचन्द जी ने प्रारंभ से ही हिन्दी कहानी-साहित्य को प्रौढ़ता की ओर ले जाने में बहुत बड़ी सफलता पायी।

जब प्रेमचन्द जी की कहानियां 'सरस्वती' तथा दूसरी पत्रिकाओं में पहले-पहल छपने लगीं, तब मैं स्कूल का विद्यार्थी था। पर तब तक तत्कालीन बंगला कथा-साहित्य से अच्छी तरह परिचित हो चुका था, रवीन्द्र और शरत् की कहानियों के रस में भीग चुका था। हिन्दी में भी उच्च कोटि की मौलिक कहानियां देखने की उत्सुकता मेरे मन में बराबर बनी रहती थी, पर बार-बार निराश होना पड़ता था। इसलिए जब मुझे पहले प्रेमचन्द की एक कहानी पढ़ने को मिली, तब मेरे हर्ष, पुलक और विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। वह पहली कहानी थी, जिसमें न तो बंगलापन की बू थी और न जो बच्चे के खिलवाड़ की ही चीज थी। उसकी भाषा, भाव और शैली में एक निरालापन, एक अभूतपूर्व चमत्कार मैंने पाया। हिन्दी कथा-साहित्य के तत्कालीन कूड़ेखाने के बीच में अचानक एक अनमोल रत्न पाकर उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में बच्चों की-सी जो रंगीन कल्पनाएं मेरे मन में जगने लगीं उनका उल्लेख करके इस समय मैं पाठकों की हास्यप्रियता को बढ़ावा नहीं देना चाहता। तात्पर्य केवल यह है कि प्रेमचन्द जी के आविर्भाव के साथ-साथ

हिन्दी कथा-साहित्य के नये युग के प्रवर्तन के संबंध में मैं एक स्कूली बच्चा होने पर भी पूर्णतः सचेत था। तब से मैं जिस जिस पत्र में प्रेमचन्द जी की कहानी छपी पाता उस पर भुक्खड़ की तरह टूट पड़ता।

प्रेमचन्द जी की कहानियों के दो प्रारंभिक संग्रह 'नव-निधि' और 'सप्तसरोज' नाम से प्रकाशित हुए। जहां तक मुझे याद है, 'नव-निधि' की कहानियां अधिकांशतः ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर चकित रह जाना पड़ता था। और उनमें भावों की खूबियां ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थीं कि कोई भी पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता था। भाव और शैली की नवीनता के अतिरिक्त जो एक और बहुत बड़ी विशेषता उन कहानियों में पाई जाती थी, वह थी प्रेमचन्द जी की मुहावरेदार और रोजमर्रा की भाषा। प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे; इसलिए इस प्रकार की भाषा के आचार्य थे। पर उर्दू से हिन्दी में आनेवाले दूसरे लेखकों की तरह उन्होंने हिन्दी को उर्दू का चोला पहनाने की गलती कभी नहीं की। प्रारंभ में हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले संस्कृत के तत्सम शब्दों का ज्ञान उन्हें प्रायः नहीं के बराबर था; पर हिन्दी की मिट्टी में पैदा होने के कारण तद्भव शब्दों से वह खूब अच्छी तरह परिचित थे और उनका प्रयोग ऐसे उपयुक्त अवसर पर, ऐसे अच्छे ढंग से और ऐसे सहज भाव से करते थे कि कोई भी हिन्दी भाषा-प्रेमी कलाविद् युवक पढ़कर गद्गद न हो यह असंभव था। मैंने 'नवनिधि' को अपने स्कूली जीवन में कम-से-कम दस बार पढ़ा होगा।

उसके बाद 'सप्त-सरोज' नामक कहानी संग्रह देखने में आया। इस संग्रह ने हिन्दी कहानी-साहित्य का स्तर बहुत ऊँचा उठाया और एक पूर्णतः नये युग की सूचना दी। इसमें कहानी-कला की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर रूप से हुई थी। उन कहानियों में सहज, सरल वास्तविकता की पृष्ठभूमि में प्रतिफलित होनेवाली स्निग्ध, सुन्दर सहृदयता की अपूर्व अभिव्यंजना पाठक के हृदय में एक मीठी वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः ३५ वर्ष पूर्व मैंने 'सप्त-सरोज' की कहानियां पढ़ी थीं और केवल एक ही बार उन्हें

पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था। तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियां मेरे स्मृति-पटल में अत्यन्त उज्ज्वल रूप से अंकित हैं। 'सौत', 'बड़े घर की बेटी,' 'पंच परमेश्वर' आदि कहानियां हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में सदा अमर होकर रहेंगी। उन कहानियों में कलाकार प्रेमचन्द अपने सच्चे, अकृत्रिम और सहज रूप में प्रकट हुए हैं।

'सप्त-सरोज' के प्रकाशन के कुछ समय बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। उस युग के हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप से युगांतरकारी रचना थी। तब तक हिन्दी में केवल जामूसी और तिलिस्मी उपन्यास लिखे जाते थे। साहित्य में उपन्यास का कोई विशेष स्थान नहीं माना जाता था। इसलिए जो उपन्यास लिखे जाते थे वे केवल बाजारू जनता के मनोरंजन के लिए। 'सेवा-सदन' पहला उपन्यास था जिसने हिन्दी उपन्यास को बाजारू दुनिया से ऊपर उठाकर साहित्य के स्तर पर लाकर खड़ा किया। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि पारिवारिक और सामाजिक कारणों से भट्की हुई एक लड़की किस प्रकार पतन के गढ़े में गिरकर वेश्या का जीवन बिताने को बाध्य होती है। उसकी उस दयनीय स्थिति में लेखक की पूरी सहानुभूति उसके साथ है और उसने उसके उद्धार के सुधारवादी उपाय निर्देशित किये हैं।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी को स्पष्ट ही शरत् की पतिता नायिकाओं से प्रेरणा मिली होगी। शरत् की सी अन्तर्दृष्टि, भाव-प्रवणता और कलात्मकता प्रेमचन्द जी में न होने पर भी उन्होंने जिस सरल, सहृदयतापूर्ण ढंग से अपनी नायिका का चरित्र-चित्रण किया था वह हिन्दी उपन्यास में एक बहुत बड़ा कदम था। मैंने बड़े चाव से उस उपन्यास को पढ़ा था और उच्च साहित्यिक कोटि के उस पहले हिन्दी उपन्यास को पढ़कर, उससे हिन्दी का गौरव बढ़ता हुआ पाकर, गर्वोच्छ्वास से मेरी छाती फूल उठी थी। 'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के प्रायः तीन वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। यह काफी बड़ा उपन्यास था और प्रेमचंद जी ने पूरे परिश्रम से उसे लिखा था। उसके प्रकाशित होते ही मैंने आदि से अंत तक बड़े

मनोयोग से उसे पढ़ा। मुझे निराशा हुई जब मैंने जसे अपनी आशा के अनुरूप नहीं पाया। मेरी निराशा का एक विशेष कारण था। 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' के व्यवधान-काल में साहित्य और कला के संबंध में मेरे विचारों में बहुत परिवर्तन और विवर्तन हो चुका था। प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य-कला के प्राचीन और नवीन भावों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप औपन्यासिक कला की परख मैं एक दूसरी ही कसौटी से करने लगा था। उस कसौटी से कसे जाने पर 'प्रेमाश्रम' पूर्णतः खरा नहीं उतरा। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें मूल्यवान तत्वों का एकदम अभाव था। जिस मिट्टी को प्रेमचन्द जी ने अपनाया था उसका जीवन से घनिष्ठ संबंध था। 'प्रेमाश्रम' पहली ऐसी साहित्यिक रचना थी जिसमें ग्राम्य जीवन को बड़े गहरे और व्यापक रूप से चित्रित किया गया था। पर चरित्र-चित्रण और आदर्श-प्रस्फुटन की दृष्टि से उसमें बहुत-सी उलझनें रह गई थीं। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था, इसलिए 'प्रेमाश्रम' के संबंध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं न रह सका और काफी स्पष्ट शब्दों में मैंने अपना मत व्यक्त कर दिया। इस पर आलोचना-प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन हिन्दी साहित्य-गगन में जो बवण्डर उठा था, उससे उस युग के पाठक भली भांति परिचित हैं। आज मैं 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में अपने विचारों की उग्रता के कारण संकोच का अनुभव कर रहा हूँ। पर यदि उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रांतिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य और पाश्चात्य मानों और आदर्शों के विचित्र सम्मिश्रण से जिस रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता और असहनशीलता आनी अनिवार्य थी। हमारे आलोचकगण जिस घिसी-घिसायी कसौटी पर प्रेमचन्द जी की उस नयी रचना को कस रहे थे और विश्लेषण तथा विवेचन से रहित आलोचनाओं में जिन कृत्रिम और रटे-रटाये 'फिकरों' को दोहरा रहे थे, वे वास्तव में बहुत ही हास्यास्पद और असहनीय थे। उनसे प्रेमचन्द जी की महत्ता प्रमाणित होने के बजाय उनकी प्रतिभा की जो वास्तविक विशेषता थी वह भी

अप्रमाणित होने लगती थी। मैं 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करते हुए भी बराबर प्रेमचन्द जी की प्रतिभा के सच्चे रूप पर जोर देता चला आता था। और आज तक मैं उसे मुक्त हृदय से स्वीकार करता चला आता हूँ।

प्रेमचन्द जी से मिलने की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी। १९२८ में जब वह 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तब मैं उनसे पहली बार लखनऊ में मिला। अपने संकोची स्वभाव के कारण मैं शायद तब भी उनसे न मिल पाता, पर एक ऐसा कारण आ गया, जिससे मेरे लिये उनसे मिलना बहुत आवश्यक हो गया।

जिस दिन मैं उनसे मिला वह मेरे लिये बहुत बड़े सौभाग्य का दिन था। प्रारम्भ मैं उनके दर्शनमात्र से ही सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट; अन्तर्भेदिनी, सुगंभीर, किन्तु शांत और साथ ही स्निग्ध आँखें, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूँछें मिल कर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। मैंने अपने परिचित प्रतिष्ठित साहित्यिक मित्रों से उनमें एक विशिष्ट विभिन्नता पायी। ज़ार के युग में अनेक कड़े अनुभवों से निष्पोषित, प्रताड़ित और पीड़ित रूसी मनीषियों के अतल-व्यापी विक्षोभ की सघन गहनता मुझे उनके व्यक्तित्व में दिखायी दी। यदि गौर किया जाय तो प्रेमचन्द जी और मैक्सिम गोर्की की वाह्याकृतियों की कई रेखाओं में आश्चर्यजनक साम्य दिखायी देगा। दोनों के चित्र उठा कर दोनों का व्यक्तित्व मिला कर देखिये। आप यह देख कर हैरत में पड़ जायेंगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थितियों, सभ्यता और संस्कारों में मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट स्वर्गीय प्रतिनिधियों के व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पायी जाती है।

सामयिक पत्रों में प्रेमचन्द जी की कला-सम्बन्धी मान्यता से मेरा मतभेद कुछ कड़े रूप में व्यक्त हो चुका था, पर जब उनसे मिला तब उन्होंने सामान्य संकेत से भी यह प्रकट न होने दिया कि मेरे विचारों से मतभेद

होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी भी प्रकार का द्वेष-भाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में अवश्य उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि मुझे अनुभव होने लगा जैसे हम दोनों की बहुत पुरानी और गाढ़ी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही संभव हुई थी। मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा और संभ्रम के भाव से झुक गया। मुझे सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात से हुई कि छुटपन में जिस अपसिंचित लेखक की असाधारण प्रतिभा से मुग्ध होकर उसके महान व्यक्तित्व का जो कल्पना-चित्र मैंने अपने शिशु-मन में बनाया था, वर्षों के वाद-विवाद और मतभेद के बाद उससे मिलने पर अपने उस बाल-कल्पना के चित्र को मैंने प्रायः उसी रूप में सजीव आकार में पाया।

उस दिन प्रेमचन्द जी से बहुत-सी बातें हुई। उन्होंने बताया कि उन्हें लेखक बनने के लिये अपनी परिस्थितियों के साथ किस प्रकार संघर्ष करना पड़ा है, किन-किन लेखकों से उन्हें प्रेरणा मिली है, औपन्यासिक कला के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है, हिन्दी के साहित्यकारों की आर्थिक दुर्दशा का प्रश्न कैसे हल हो सकता है, वह स्वयं अपनी आर्थिक परिस्थितियों और प्रकाशकों के शोषण से मुक्त होने के लिये किस प्रकार संघर्ष कर रहे हैं, आदि विषयों को उन्होंने विस्तार से समझाया। उनकी और सब बातों में उनसे पूर्णतः सम-अनुभूति का अनुभव करते हुए भी एक बात से मेरा मतभेद बना ही रहा। औपन्यासिक कला के सम्बन्ध में उनके विचारों से मैं सहमत न हो सका। मैं समझ गया कि हम दोनों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धारार्यों दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। तथापि इस कारण से हम दोनों के बीच पारस्परिक सम-अनुभूति में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखायी दिया। इसके अतिरिक्त जीवन और जगत् के मूलगत प्रश्नों के सम्बन्ध में हम दोनों एकमत थे। जब मैं उनसे मिलकर लौटा तो उनके व्यक्तित्व की महानता के सम्बन्ध में ऐसी दृढ़ धारणा साथ लेता हुआ चला जिसकी अमिट छाप अभी तक मेरे मन में अंकित है!

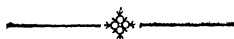
दूसरी बार प्रेमचन्द जी से तब मिला, जब हम दोनों प्रयाग में कुछ साहित्य-प्रेमियों द्वारा आयोजित एक गल्प-सम्मेलन में भाग लेने आये हुए

थे। प्रयाग तो मैं चला आया था, पर ऐन मौके पर गल्प-सम्मेलन में भाग लेने के सम्बन्ध में मेरा विचार बदल गया। मैंने भाग नहीं लिया, पर प्रेमचंद जी शायद यह जानने के लिये उत्सुक थे कि उस बीच हिन्दी में कहानी-कला किस हद तक तरक्की कर चुकी है। इसलिये उन्होंने भाग लिया। पर जब लौट कर आये तो मुझे बोले कि “आपने भाग न लेकर अच्छा ही किया।” उन्हें बड़ी निराशा हुई थी। कहने लगे कि “हिन्दी की कहानियों का स्तर अभी तक इतना गिरा हुआ है, इसकी कल्पना मुझे नहीं थी।” मैंने कहा: “आपकी निराशा का एक कारण शायद यह रहा होगा कि आपके अतिरिक्त और कोई उच्चकोटि का लेखक वहां उपस्थित न हो सका था।” उन्होंने उत्तर दिया: “यह हो सकता है, पर क्या केवल उच्च कोटि के लेखकों की रचनाओं से साहित्यिक स्तर की आम प्रगति की माप करनी होगी? औसत स्तर को जानने के लिये साधारण लेखकों की रचनाओं के स्तर की भी जानकारी आवश्यक है। यदि वह साधारण स्तर बहुत गिरा हुआ हो तो औसत स्तर भी गिरा ही होगा।” उनकी यह बात मुझे बहुत जंची।

उसके बाद उनसे मेरा मिलना न हो सका। पर उनकी साहित्यिक प्रगति में मैं बराबर दिलचस्पी लेता रहा। बाद में जब वह लखनऊ छोड़ कर बनारस में बस गये और वहां से ‘हंस’ का प्रकाशन करने लगे तब बीच-बीच में मुझे ‘हंस’ में लिखने के लिये आमन्त्रित करते रहे। उनके सम्पादक-काल में हंस में मेरे दो-तीन लेख छपे भी थे। कलकत्ते के लम्बे निर्वासन से मुक्त होकर प्रयाग आकर ठीक से बस भी न पाया था कि एक दिन सहसा उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर मर्माहत हो गया। उस समय ऐसा लगा कि हिन्दी साहित्य के भाग्य का सितारा सदा के लिये अस्त हो गया। उनकी मृत्यु के बाद मुझे ‘गोदान’ पढ़ने को मिला था। हिन्दी के उस अत्यन्त महत्वपूर्ण महाकाव्य को पढ़ कर मुझे लगा कि प्रेमचन्द जी के आविर्भाव के समय हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में मैंने जो कल्पना की थी उसकी पूर्ण पूर्ति हो गयी।

आज हमारी नयी पीढ़ी के साहित्यकार प्रेमचन्द को केवल एक ऊँचे दर्जे के कलाकार के रूप में जानते हैं। उनका मनुष्यत्व उनकी कला से भी

कितना अधिक महान था, इस बात का परिचय केवल उन्हीं लोगों को है जो उनके जीवन-काल में उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का सौभाग्य पा चुके थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातित जीवन का सजीव चित्रांकन किया है उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी; वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में, व्यावहारिक रूप में व्यक्त करके हमारे साहित्यकारों के लिये एक महान आदर्श छोड़ गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में जिन कष्टों का अनुभव किया उनसे उन्होंने समाज के पीड़ितों को यथार्थ रूप में समझने में सहायता पाई। और केवल समझ कर और कला के माध्यम से उस पीड़न की अभिव्यक्ति करके ही वह चुप नहीं रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक संकट की दशा में भी वह विभिन्न परिस्थितियों में पड़े हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथासंभव आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिये सदा उत्तत रहते थे, ऐसा मैंने उन लोगों से सुना है जिन्होंने उनसे सहायता पायी थी। हिन्दी जगत के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की संकीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब मैं प्रेमचन्द जी के इस उदार मनुष्यत्व की सहृदयता पर विचार करता हूँ तब मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद होकर उमड़ उठती है।



जीवन विजयिनी महादेवी

सन् '२३ या '२४ की बात है। स्वर्गीय श्री रामरख सिंह सहगल तब 'चांद' को जमाने के प्रयत्न में पूरे परिश्रम से जुटे हुए थे। तब तक उन्होंने 'चन्द्रलोक' नहीं बसाया था और अहियापुर की एक गली में वह रहते भी थे और वहीं उनका कार्यालय भी था। वह एक सुयोग्य सहकारी संपादक की खोज में थे। मेरी उम्र तब केवल बाईस वर्ष की थी और मैं न अनुभवी था न सुयोग्य। फिर भी साहस करके उनके पास पहुँचा और अपने ज्ञान और अज्ञान का थोड़ा परिचय मैंने उन्हें दिया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब वह कुछ ही देर की मुलाकात में मुझसे प्रसन्न हो गये और मुझे उन्होंने नियुक्त कर लिया। मुझे संपादन का सारा काम सौंपते हुए उन्होंने प्रकाशन के लिये आयी हुई सारी सामग्री मेरे पास रख दी और कहा कि काम की चीजें रख लूँ, शेष वापस कर दूँ।

मैंने एक-एक करके सभी चीजों को पढ़ना आरम्भ किया। उन्हीं में एक विशेष कविता मेरे हाथ लगी। उसमें कवयित्री का नाम लिखा था : महादेवी वर्मा। मैंने ध्यानपूर्वक कविता को पढ़ा। कविता मुझे इतनी अच्छी लगी कि मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि वह किसी नारी की रचना हो सकती है। उस जमाने में हिन्दी-जगत् में स्त्री-लेखिकाएँ इनी-गिनी थीं और जो थीं वे भी केवल गार्हस्थिक विषयों पर सीख देने तक ही अपनी रचनाओं को सीमित रखती थीं। कविता तो तब शायद ही कोई स्त्री लिखती हो। स्त्रियों के नाम से तब जो भी कविताएँ छपती थीं उनके सम्बन्ध में यह धारणा लोगों में प्रचलित थी कि वे पुरुषों द्वारा लिखी गयी हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से इस तरह के दृष्टान्तों से परिचित था। एक महाशय ने मुझे बताया था कि वह जब अपने नाम से कोई कविता लिखकर किसी पत्र में छपने के लिये भेजते हैं तब उनकी रचना वापस लौट आती है, पर जब वह किसी स्त्री के नाम से भेजते हैं तब निश्चित रूप से छप जाती है।

जो भी हो, मैं जब महादेवी वर्मा के नाम से छपी हुई कविता पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुआ तब मैंने सहगल जी से कहा: “यह कविता तो बहुत सुन्दर है। पर इसके रचयिता के स्थान में एक महिला का नाम लिखा हुआ है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? क्या आप इस कविता को वास्तव में एक महिला की रचना मानते हैं?” उन्होंने कहा: “मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि यह एक १७ साल की लड़की की लिखी हुई कविता है। उस लड़की में प्रतिभा के बीज हैं, और जहाँ तक मेरी जानकारी है, वह कविता लिखने में किसी भी पुरुष की सहायता नहीं लेती।”

सहगल जी ने जिस निश्चयात्मक रूप से वह बात कही उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। वह पहला ही अवसर था जब मैं किसी स्त्रीनामधारी छद्मपुरुष की कविता नहीं, बल्कि सचमुच एक नारी द्वारा लिखी गयी कविता पढ़ रहा था—और वह भी इतनी सुन्दर कविता! मैंने पूरे उत्साह से उस कविता को कंपोज के लिये भेज दिया और तब से इस बात के लिये उत्सुक रहने लगा कि महादेवी वर्मा के नाम से लिखी गयीं और भी कविताएँ पढ़ने को मिलें।

दुर्भाग्य से ‘चांद’ से मेरा सम्बन्ध अत्यल्प काल के लिये रहा। मेरा तत्कालीन चंचल मन नौकरी का बंधन अधिक समय तक स्वीकार न कर सका, और मैं आवारा लोगों का सा जीवन बिताता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान में निरुद्देश्य भटकता रहा। हिन्दी साहित्य की सामयिक गति-विधियों से भी पूरा परिचित होने का सौभाग्य मुझे नहीं मिल पाता था। फिर भी, महादेवी वर्मा के नाम से छपी हुई कविताएँ महीनों—कभी-कभी वर्षों—के अन्तर से मेरी नजर में आ जाती थीं। और जब भी मैं उनकी कोई कविता पढ़ता तभी मेरे मन और मस्तिष्क के तार एक विचित्र अनुभूति के कंपन से थरथरा उठते थे। वह कंपन आनन्दमूलक होता था या विषादमूलक, या रहस्य-भावनात्मक, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा मुझे नहीं है, पर वह निश्चय ही असाधारण होता था, जो मुझे कुछ समय के लिये दैनन्दिन जीवन की साधारण अनुभूतियों से बहुत दूर खींच लेता था। उन कविताओं

मैं एक निराली भावात्मकता के अतिरिक्त सूक्ष्म बौद्धिक अनुभूतियों का भी आभास मुझे मिलता था । इसलिये न चाहने पर भी बीच-बीच में फिर यह संदेह मेरे मन को हलकी-सी गुदगुदी देने लगता कि उनकी वास्तविक रचयिता महादेवी न होकर कोई 'महादेव' तो नहीं हैं ? पर फिर सहगल जी की बात याद आ जाती और मैं मन ही मन विस्मय से विभ्रमित होकर अपने संदेह को दबा देता । मेरे संदेह का सुस्पष्ट कारण यह था कि हिन्दी-जगत की नारी के तत्कालीन औसत बौद्धिक स्तर से मैं भलीभांति परिचित था । महादेवी वर्मा के नाम से छपने वाली कविताओं का बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा मुझे लगता था जो तत्कालीन पुरुष कवियों के भी बौद्धिक स्तर से केवल होड़ ही नहीं लेता था, बल्कि कभी कभी उनसे भी ऊँचा उठा हुआ होता था । इसलिये मेरा संदेह स्वाभाविक था और उसके लिये मैंने अपने को कभी दोषी नहीं पाया है । यह ठीक है कि सहगल जी की बात के बाद फिर संदेह का कोई कारण नहीं रह जाना चाहिये था । पर यह भी तो संभव था कि सहगल जी भी 'विशफुल थिंकिंग' वश भ्रम से यह विश्वास करने लगे हों कि वे कविताएँ किसी नारी की ही मौलिक रचनाएँ हैं !

अन्त में दो ऐसे व्यक्तियों से इस सम्बन्ध में मेरी बातें हुईं जो व्यक्तिगत रूप से महादेवी जी से परिचित थे और जिन पर स्वयं मेरी बड़ी आस्था थी । उन लोगों ने बताया कि महादेवी जी ने स्वयं, बिना किसी की सहायता के, उन कविताओं को लिखा है जो उनके नाम से छपी हैं । इस निश्चित जानकारी से कि जिन कविताओं से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ हूँ वे सचमुच में एक साकार और संप्राण नारी की रचनाएँ हैं, मैं, न जाने क्यों, अत्यन्त गर्व का अनुभव करने लगा । उस समाचार से मुझे लगा कि हिन्दी के एक साहित्यकार के नाते केवल मेरे गोत्र ही में वृद्धि नहीं हुई वरन् हिंदी-साहित्य का गौरव भी अभूतपूर्व और अप्रत्याशित रूप से बढ़ने जा रहा है । क्योंकि मेरे मन में यह विश्वास तभी जम गया था कि महादेवी जी की निराली रहस्यात्मिका और रसात्मिका अनुभूति से प्रेरित और गहन-गंभीर बौद्धिक रस से अभिविक्त रचनाएँ केवल अशिद्धान्धकार से ग्रस्त भारत के

लिये ही नहीं, बल्कि विश्व के शिक्षित नारी-समाज के लिये भी अत्यन्त महत्त्व की होंगी ।

उसके बाद समय के अन्तर से महादेवी जी की कविताएँ संग्रह-रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित होती गयीं । 'नीहार', रश्मि' और 'नीरजा' की कविताओं का अध्ययन संगृहीत रूप में करने पर उस अविश्वसनीय रूप से आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी कवयित्री के गहन और साथ ही विराट व्यक्तित्व का परिचय मुझे अधिक घनिष्ठ रूप से मिला । यहां पर एक बात सच्चाई के खयाल से बता दूँ कि मैं प्रारम्भ ही से बहुत ही कड़ा आलोचक रहा हूँ और संसार के बड़े से बड़े और प्रसिद्ध से प्रसिद्ध कवि अथवा लेखक की किसी भी रचना को कभी पूरे का पूरा, अनालोचित भाव से मन के गले के नीचे नहीं उतार पाया हूँ । कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक और गेटे से लेकर रवीन्द्रनाथ तक, सभी महाकवियों और महालेखकों की रचनाओं में, अपने दृष्टिकोण से मुझे जो त्रुटियाँ मिली हैं वे उनकी रचनाओं की अपूर्व रसमयता का आस्वादन करते समय भी मेरे मन में किरकिराती रही हैं । उसी तरह महादेवी जी की कविताओं का रस ग्रहण करते समय भी कई स्थानों में मेरा रसभंग हुआ है । पर उस रसभंग में भी मुझे विश्राम मिला है, जिससे रस के गहरे स्थलों में मैं और अधिक तन्मयता से डूब सका हूँ । यदि बीच-बीच में रसभंग के वे स्थल न होते तो संभवतः मैं अत्यधिक भावुकतावश रस की गहराइयों में डूबा ही रह जाता । और रस में डूबने का सच्चा सुख तभी है जब बिहारी के कथनानुसार उसमें पूर्णतः मग्न होने के बाद उतरा भी जा सके ।

महादेवी जी की अपेक्षाकृत प्रारम्भिक कविताओं में ही मुझे एक ऐसे महान् व्यक्तित्व का आभास मिला जो केवल रसमय या भाव-विह्वल ही नहीं था, बल्कि जिसकी भाव-वेदनात्मक अनुभूतियाँ गहन और व्यापक चिन्तन के ठोस आधार से सुसंचालित और सुनियमित थीं । उनकी प्रारम्भिक रचना 'नीहार' ही में स्थान-स्थान पर मुझे उनके ऐसे गहन भावात्मक व्यक्तित्व का परिचय मिला जिन्हें पढ़कर मेरा गर्वीला मस्तक बार-बार गंभीर चिन्तन में

मग्न हो-होकर झुक-झुक जाता था । जो नारी अपने अपेक्षाकृत अपरिपक्व वय में परिपूर्ण आत्म-विश्वास के साथ यह कह सकती थी कि—

अपने इस सूनेपन की

मैं हूँ रानी मतवाली,

प्राणों का दीप जलाकर

करती रहती दीवाली !

उसका व्यक्तित्व कदापि साधारण नहीं हो सकता, यह अनुभव मुझे तभी हो चुका था । मैं मानता हूँ कि यह घोर व्यक्तिवादी उक्ति है, पर विचारणीय विषय यह है कि अपनी व्यक्तिवादिता में भी वह व्यक्तित्व कितना गहरा, कितना अथाह है ! भीतर परिपूर्ण सूनापन लिये हुए भी जो व्यक्तित्व उस निविड़ शून्य की स्थिति का पूर्ण उपभोग, प्राणों का दीप जलाकर, एक रानी की तरह कर सकता है उसके संबंध में आप और चाहे कुछ मानें या न मानें, इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि वह किसी भी हालत में कोई साधारण छुईमुई का सा व्यक्तित्व नहीं, बल्कि जीवन की गहराइयों में डूबा हुआ, ठोस विश्वासों पर आधारित व्यक्तित्व है ।

हठीले प्राणों का यह गर्वीलापन—भयंकर से भयंकर, क्रूर से क्रूर परिस्थितियों का सामना अन्तर-शक्ति द्वारा कर सकने का यह प्रचंड आत्मविश्वास, महादेवी जी की और भी बहुत सी प्रारम्भिक कविताओं में ही मुझे मिलने लगा था :

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को ब्रीड़ा
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा ?
उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिन्नुक जीवन ?
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन ।

(नीहार)

अपनी अथाह पीड़ा और अपने असीम सूनेपन पर इतना सहज अधिकारपूर्ण गर्व जिस नारी की प्रारम्भिक कविताओं में ही झलक उठा उसके व्यक्तित्व का भावी विकास भी कैसा असाधारण होगा, इस कल्पना ने उसकी कविताओं के प्रति मुझे स्वभावतः और अधिक उत्सुक कर दिया। उन कविताओं से मुझे जीवन में पहली बार एक ऐसी नारी का अप्रत्यक्ष परिचय मिला जो पूर्णतः भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत होने पर भी भारतीय नारी की परम्परागत छुईमुई की सी कल्पना से एकदम भिन्न पड़ती थी। जिस भारतीय नारीत्व की परम्परा का यथार्थ परिचय मैथिलीशरण जी ने इन सुन्दर शब्दों में दिया है :

अबला नारी, हाय तुम्हारी यही कहानी।

आंचल में है दूध और आंखों में पानी ॥

उससे 'नीहार' की कवयित्री के व्यक्तित्व का कोई भी मेल बैठा हुआ मैंने नहीं पाया। मैंने पाया उस नारी को जिसने आसू-अवश्य गिराये हैं, पर जिसने साधारण अबला नारियों की तरह अपने जीवन को आंसुओं के रूप में गला नहीं दिया, बल्कि जिसने अपने अन्तर के भी अन्तर से अश्रु-भांडार की छलकन के रूप में बाहर निकल पड़ने वाले आंसुओं को ठंडे मस्तिष्क से, शान्त चित्त से मोतियों की तरह सँजोकर उन्हें जीवन की कठोर पीड़ामूलक परिस्थितियों के नियन्ता को (यदि कोई ऐसा नियन्ता है तो) सगर्व उपहार-स्वरूप भेंट किया है—स्वयं उस पर अहसान लादने के लिये ! मैं तब से बराबर यही सोचता रहा हूँ कि वह कितनी बड़ी शक्ति होगी जिसकी प्रेरणा से इतना महत् साहस इस विजयिनी को सहज ही—बिना किसी कष्ट-कल्पना या कृत्रिम चेष्टा के—हुआ ! परम्परागत दलित और शोषित नारीत्व की इतनी बड़ी प्रमाण-सिद्ध विजय का झंडा जिस कवयित्री ने विश्व-साहित्य के इतिहास में पहले पहल गाड़ा उसके प्रति मेरा गर्वीला पुरुष-हृदय जो सहज ही झुक गया उस कल्पना से मैं आज भी रह-रहकर पुलकित हो उठता हूँ। उसे मैंने कभी अपने लिये ग्लानि का कारण नहीं माना है।

'नीरजा' में महादेवी जी की कविता का विकास 'नीहार' और 'रश्मि' की अपेक्षा कई गुना अधिक सुन्दर, सजे हुए और परिपक्व रूप से उभर

आया। जब उनसे पहली बार मेरा व्यक्तिगत परिचय हुआ तब उनका 'सांध्यगीत' प्रकाशित हो चुका था। प्रारम्भ में उनके बाहरी व्यक्तित्व से उनकी कविताओं में अभिव्यक्त अन्तर्व्यक्तित्व का मेल बिठाने में मुझे कठिनाई का अनुभव हुआ। कारण यह था कि महादेवी जी अपने हास्य द्वारा अपने अन्तर की गहन भावात्मकता को छिपाने की कला में पारंगत हैं, इस तथ्य से तब मैं परिचित नहीं था। धीरे-धीरे जब मैं उनके निकट सम्पर्क में आता गया तब उनके वाह्य व्यक्तित्व में भी उनके भीतरी व्यक्तित्व के अतल गांभीर्य की झलक मुझे दिखायी देने लगी। और एक दिन वह आया जब उनके भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व के बीच का पर्दा मेरी आंखों के आगे से एकदम हट गया और मैंने पाया कि उनका जीवन ही वह कविता है, जिसकी रचना उन्होंने की है, और उनकी काव्य-साधना ही वह जीवन है जिसका सुसामंजस्यपूर्ण निर्माण उन्होंने यथार्थ की कठिन और कठोर पृष्ठ-भूमि में स्वयं अपने हाथों से किया है।

'सांध्यगीत' के प्रकाशन द्वारा वह न केवल कवयित्री के रूप में बल्कि चित्रकर्त्री के रूप में भी हिन्दी-संसार के सामने आयीं। तब तक उनकी चित्रकला का कोई आभास किसी को नहीं मिला था। अचानक ही यह बात सब के आगे प्रकट हुई कि वह जितनी ही श्रेष्ठ कवयित्री हैं उतनी ही कुशल चित्तेरी भी। उनका एक-एक चित्र अपने-आप में एक महान कविता है। अन्तर्जगत् के अस्फुट चेतनात्मक आभासों में निहित उदात्त भाव-छायाओं के जो समूर्त रूप उन्होंने विविध स्वप्न-रंगों की सहायता से अपने चित्रों द्वारा प्रस्फुटित किये हैं वे सचमुच अपूर्व सुन्दर हैं। तब 'विजनवती' नाम से मेरा एक कविता-संग्रह प्रकाशित हो रहा था। महादेवी जी की चित्रकला से अत्यन्त प्रभावित होकर मैंने अपने उस कविता-संग्रह का आवरण-पृष्ठ तैयार कर देने की प्रार्थना उनसे की। उन्होंने सहज भाव से मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और केवल दो सजीव और संप्राण फूलों के चित्रण द्वारा एक ऐसी अनिर्वचनीय रहस्यात्मकता प्रस्फुटित कर दी जिसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है और जिसका वर्णन और विस्लेषण

संभव नहीं है। सारी पुस्तक में केवल वह चित्र ही महत्वपूर्ण सिद्ध होकर रहा। कविताएं सब एकदम पृष्ठभूमि में चली गयीं।

‘सांध्यगीत’ की कवयित्री को मैंने नये सिरे से समझने का प्रयत्न किया— उस कवयित्री का जो अपने जीवन को सांध्यगगनमय मान चुकी थी, और जिसके जीवन में संध्या की तरह ही एक स्निग्ध शान्ति धीरे धीरे व्याप्त होती चली जा रही थी—केवल ३० ही वर्ष की अवस्था में ! मैंने देखा कि महादेवी जी के काव्य और चित्र-शैली में पूर्ण परिपक्वता आ जाने पर भी अधिकांश कविताएं और चित्र अभी तक आंसुओं से धुले थे।

तब क्या उनके जीवन का आंसुओं वाला रूप ही सच्चा है ? मैंने सोचा। क्या वह भी उन्हीं नारियों में से हैं जो अपनी अन्तर्गोड़ा के भीतर इस कदर डूब चुकी हैं कि उनके चारों ओर केवल अश्रुसागर ही लहराता रहता है, और जिनमें उस सागर से उठने की न तो शक्ति है न प्रवृत्ति ? या फिर उनके वे आंसू वास्तविक नहीं, नकली हैं—केवल कोरी काव्य-कल्पना हैं ? गहरे अध्ययन के बाद फिर मेरे मन में वही धारणा बद्धमूल हो गयी जो पहले घर कर चुकी थी। वह यह कि उनके आंसू नकली नहीं सच्चे हैं, पर वे दुर्बलताजनित नहीं, शक्ति-जनित करुणा से निकले हुए आंसू हैं, जिन पर किसी भी वीरांगना को गर्व हो सकता है। वे यथार्थ जीवन की दयनीय विवशता से बहुत ऊपर उठी हुई महिमामयी के आंसू हैं। उन आंसुओं का उन्हें बड़ा मोह है। उन आंसुओं की भेंट का अधिकारी जीवन का कोई बिरला ही महान साधक हो सकता है :

जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चन्दन सी
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय-आलिंगन-सी,
जिसको जीवन की हारें
हों जय के अभिनन्दन सी
वर दो यह मेरा आंसू
उसके उर की माला हो !

जिस वीर नारी के जीवन का आदर्श पीड़ा को सुरभित चन्दन के रूप में ग्रहण करने, तूफानों की छाया को प्रिय-आलिंगन की तरह स्वीकार करने और जीवन की हारों को जय के अभिनन्दन की तरह वरण करने का हो उसके आँसू कदापि किसी निराशावादिनी अबला नारी के असहाय आँसू नहीं हो सकते ।

मैंने गहरी खोज के बाद यह पाया कि महादेवी जी के भीतर के भावोद्वेलन की तुलना उस बाढ़ से नहीं की जा सकती जो अपने सारे वातारण को जलमग्न कर देती है, वरन उस तीव्र वेगशील निर्भर की खर-धारा से की जा सकती है जो दुर्गम पर्वत की चट्टानी गुहाओं को विदारकर, अपने आगे की सारी कठोर से कठोर बाधाओं को दूर कर, अपने लिये स्वयं रास्ता काटती और बनाती हुई निरन्तर आगे की ओर बढ़ी चली जाती है । अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भी वह जैसे सुदूर महासागर का आह्वान सुनती है और उसी महालक्ष्य की ओर बढ़ने के उद्देश्य से सतत प्रयत्नशील रहती है । पहाड़ पर से नीचे उतरती हुई वह निर्भर-धारा नदी में परिवर्तित होकर अपने दोनों कूलों को सुन्दर फूलों और तृण-लताओं से आच्छादित करती हुई चली जाती है । नीचे मैदान में उतरने के बाद उसके शस्यश्यामल कूलों का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है । उसमें जीवन तत्त्वों को बिखेरने की शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ जाती है । प्यासों को पानी देती हुई और भूखों के भोजन का प्रचुर प्रबन्ध करती हुई भी वह अपने लक्ष्य को एक क्षण के लिये भी नहीं भूलती, और पथ के सहस्रों चक्करों में अपने को उपयुक्त रूप से मोड़ती हुई अपनी विशिष्ट पथ-रेखा का निर्माण स्वयं ही करती जाती है ।

महादेवी जी की काव्यधारा की तरह ही उनका व्यक्तित्व भी है । किन्हीं बाह्य परिस्थितियों की विवशता ने उसका निर्माण नहीं किया, बल्कि उन्होंने स्वयं परिस्थितियों को अपने महान् व्यक्तित्व के विकास के अनुकूल बनाया है । इस महानारी के इस महापुरुषार्थ पर मैं जितना ही विचार करता हूँ उतना ही अधिक आश्चर्य में डूबता जाता हूँ । उनके जीवन का यह प्रकट विरोधाभास केवल एक रहस्यपूर्ण पहेली ही नहीं है, बल्कि जीवन की जटिल गुत्थियों की सुलझाने की एक जादुई कुंजी भी है । उनके जीवन

का यह ऊपरी विरोधाभास जीवन के मूलगत वैषम्यों के बीच के सामंजस्य का एक आश्चर्यजनक सूत्र है। एक ओर उनके नारी-सुलभ सुकुमार और सुकोमल हृदय से निकले हुए वेदना-विकल अश्रु उनके कविता-कुसुमों में तुहिन-कणों की तरह चमकते रहते हैं, दूसरी ओर उनकी विद्रोही आत्मा से निकलते हुए अंगारे प्रलयकाल की-सी फूलझड़ियां जलाने लगते हैं; एक ओर वह नीहारमय हैं तो दूसरी ओर प्रज्वलित दीपशिखा की प्रतिमूर्ति; एक ओर वह नीर-भरी दुःख की बदरी हैं तो दूसरी ओर

शलभ मैं शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।

इन दोनों मूलतः परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को—नीहार और दीप, जल और ज्वाला के मूल तत्त्वों को—एक सामंजस्य के सूत्र में बांध सकने की कला किसी प्रकार भी साधारण नहीं हो सकती। वह अत्यन्त असाधारण और दुरुह है। और महादेवी जी के विराट व्यक्तित्व की विशिष्टता यहीं पर है कि इस दुरुह कला को उन्होंने अपने साहित्य और जीवन दोनों में सहज-साध्य बना लिया है। इसीलिये मेघ की बूँद के लिये विकल भोले-पपीहे को उलाहना देती हुई वह लिखती हैं :

चपल बन-बन कर मिटेगी भूम तेरी मेघमाला
मैं स्वयं जल और ज्वाला
दीप सी जलती न तो
यह सजलता रहती कहाँ !

एक ओर वह निपट दैन्य-भरी करुण भावुकता के वशीभूत होकर अपने सम्बन्ध में अत्यन्त निराश स्वर में कहती हैं कि “उमड़ी कल थी मिट आज चली,” तो दूसरी ओर कठोर और उत्तुंग हिमालय की विराट साधकता को छूने और उसकी अथाह करुणा की थाह नापने का दम भरती हैं :

तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह माप।

तभी वह अन्तर और बाह्य जीवन के शत-शत संघर्षों, सहस्रों आघातों के पीड़न से कभी झुकी नहीं हैं। उस पीड़न को पूर्णतः अपने वश में करके,

उसके ऊपर उठकर, उन्होंने नाश-पथ पर अमरता का, मृत्यु पर जीवन की विजय का घोष सुनाया है। यही कारण है कि भावात्मक रस-विह्वलता को अपनाने पर भी उन्होंने जीवन की कठोर संघर्षशील यथार्थता को कभी अस्वीकार नहीं किया :

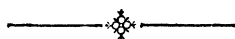
जाग तुझ को दूर जाना !
बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले ?
विश्व का कंदन भूला देगी मधुप का मधुर गुनगुन ?
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छांह को अपने लिये कारा बनाना !

महादेवी जी का व्यक्तित्व इतना गहन और महान है कि उसका जितना ही अध्ययन किया जाय, जितना ही विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जाय, उतना ही वह अधिक रहस्यमय और विश्लेषण के अतीत लगने लगता है। जीवन की निर्मम से निर्मम परिस्थितियों द्वारा लाख कुचले जाने पर भी कोमल हरी दूब की तरह कभी न कुचला जा सकने वाला, लाख प्रहारों के बाद भी इस्पात से भी कठिन धातु की तरह कभी न झुकाया जा सकने वाला उनका अश्रुधौत व्यक्तित्व आज के विश्वव्यापी निराशा के युग में भी ललकार कर पुकार उठता है :

और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद;
बाँध देंगे अंक-संस्मृति से तिमिर में स्वर्ण वेला !

महादेवी जी विश्व-पुरुष के लिये एक पहली भी हैं और चुनौती भी। युग-युगों से नारी-आत्मा को पुरुष अपने अहम् की चरितार्थता के लिये कुम्हार की गीली मिट्टी की तरह पैरों से रौंदता और हाथों से गूंदता हुआ स्वेच्छानुसार उसका निर्माण और नाश करता आया है; उसे अपने इच्छानुसार अपने

व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करने का कोई अवसर उसने नहीं दिया है। उसी के फलस्वरूप नागी की सरल और तरल आत्मा में कण-कण और बिन्दु-बिन्दु करके अज्ञात रूप से संचित होते रहने वाला विद्रोह आज संसार की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री के काव्य और व्यक्तित्व में प्रलय सागर के शत-शत फेनिल उच्छ्वासों की तरह उमड़ता हुआ और ज्वालामुखियों के सहस्रों तप्त श्वासों की तरह फुफकारता हुआ, कायर पुरुषात्मा को चुनौती दे रहा है। क्या युग-पुरुष उसे स्वीकार करने की समर्थता रखता है ? आने वाला युग ही इसका सही उत्तर दे सकेगा।



आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान

हिन्दी में हम पहले-पहल सूरदास और तुलसीदास की कृतियों में मनोवैज्ञानिकता का आभास पाते हैं। पर वे दोनों कवि बहुत से दृष्टिकोणों से महान् रचयिता होते हुए भी गहरे स्तर के मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं दिखा पाए। फिर भी जिस मध्यम स्तर की मनोवैज्ञानिकता का निदर्शन उन्होंने किया है वह उस युग की बौद्धिक जड़ता को देखते हुए कम प्रशंसनीय नहीं है। उस जड़ मध्ययुग में उन्होंने मानव-मनोद्वेगों के जिस ज्ञान का परिचय दिया वह अठारहवीं सदी के यूरोपियन कथाकारों की अपेक्षा अधिक उन्नत था। आधुनिक युग में शरत्चन्द्र का मनोविज्ञान भी उनके आगे कहीं ठहर नहीं पाता। सूरदास ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से आरंभ करके उनकी परिणत यौवनावस्था तक की प्रेम-लीला का जो भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, वह इतना हृदयग्राही और मार्मिक है कि उसे देखते हुए शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में मानव के स्वार्थ और परार्थ, प्रेम और घृणा तथा अन्तरात्मा की परस्पर-विरोधी उलझनों के संघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया है (जिसकी चरम परिणति भरत के चरित्र-चित्रण में हुई है) वह मध्ययुग में शेक्सपीयर और अठारहवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों के मनोवैज्ञानिक संघात-विघातात्मक चित्रण से किसी अंश में भी न्यून नहीं है, बल्कि अधिक उन्नत है—इसलिये कि उसका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है।

सूरदास और तुलसीदास के बाद रीतिकालीन कवियों ने मानव-मन के एकदम ऊपरी स्तर की छिछली रागात्मक प्रवृत्तियों के सारहीन स्वरूप का वर्णन किया और उसी में उनकी शब्दजाल-पूर्ण कविता-कला की सारी चातुरी समाप्त हो गई। द्विवेदी-युग में अन्तरविज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।

छायावाद के युग में अन्तर्वैज्ञानिकता की ओर कवियों का झुकाव फिर से दिखाई दिया। पर इस युग में मानव की अन्तर्प्रवृत्तियों के निरपेक्ष विवेचन और विश्लेषण के बजाय कवियों ने अपने मन के उद्वेगों का मुक्त उद्गार ही अधिक व्यक्त किया। छायावादी युग की कविताओं का मनोविज्ञान अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। इधर कुछ नवीन कवियों ने अपनी अति-प्राकृत (Surrealist) कविताओं में जिस कोटि की मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है वह वास्तव में हिन्दी कविता के बहुत उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करता है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग के समाप्ति-काल में प्रेमचंदजी का आविर्भाव हुआ। प्रेमचंद जी ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया; पर अन्तर्गत में जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे वह यों भी अत्यन्त छिछुला और केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, तिस पर वह उस ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाए। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव-जगत् के बाह्य संघर्षों से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुए थे कि अन्तर्संघर्षों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिकतर बाह्य जीवन के आघात-प्रघातों के ही चित्रण मिलते हैं—अन्तर्प्रवृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत 'मिशन' को लेकर वह चले थे उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वह एक प्रकार से असफल रहे। क्योंकि उसी बाह्य जीवन-चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अन्तर्जीवन-चक्र पर आधारित हो; उसी प्रकार अन्तर्जीवन की वही प्रगति श्रेयोन्मुखी हो सकती है जो बाह्य जीवन की प्रगति से निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुए हो। बाह्य और अन्तर—दोनों जीवनो की प्रगतियाँ एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखती हैं। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपना कर दूसरे की अवज्ञा करेगा उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचंद जी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पाई हो, और किसानों और जमींदारों का संघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के

साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यां न किया हो, इस ध्रुव, निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके स्वपक्षी आलोचक भी दबा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन में और जीवन के मार्मिक सत्यों के उद्घाटन में वह असफल रहे। हिन्दी में उनके समय तक उपन्यास-साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने बहुत बड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिये वह आदरणीय रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी, जब कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य लम्बी छलांगें भर कर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग उन्हें 'उपन्यास-सम्राट' आदि विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणों का रोपण करते चले जावें जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी जैसी द्विवेदी युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सब के आगे उपहास-योध्य प्रमाणित हो गई जिन्होंने गुप्तजी की 'भारत-भारती' को काव्य-कला की एक अत्यन्त महान् कृति घोषित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। 'भारत-भारती' में भी प्रेमचन्द जी को रचनाओं की ही तरह भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए दलित और शोषित वर्ग की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी। पर इस बात से आज सभी एकमत हैं कि यह रचना, श्रेष्ठ कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती और राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी कला की दृष्टि से वह महत्वहीन है। स्वयं गुप्तजी के आगे यह बात बाद में स्पष्ट हो गई थी, और इसीलिये उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं में ('साकेत', 'यशोधरा' आदि में) मनुष्य के अन्तर्जीवन चक्र की प्रगति की उपेक्षा नहीं की। 'भारत-भारती' को इस समय जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य में प्रेमचन्द जी की समस्त रचनाओं को मिलना अनिवार्य है, और तब स्वभावतः उन आलोचकों की बुद्धि का भी मूल्यांकन भावी साहित्यकारों के आगे सुस्पष्ट हो जावेगा जो प्रेमचन्द जी की आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य समझे बैठे हैं जिन्होंने प्रेमचन्द जी की तरह अन्तर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नौव बंकिमचंद्र ने डाली थी। उनके अधिकांश उपन्यास सर वाल्टर स्कॉट की रचनाओं की तरह ऐतिहासिक घटना-चक्रों पर आधारित हैं, पर उनके तीन उपन्यास—‘रजनी’, ‘कृष्णकांतरे उड़ल’ और ‘विपवृद्ध’ मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विशेष कर ‘विपवृद्ध’ में उन्होंने जिस कोटि के मनोविज्ञान का अवलम्ब ग्रहण किया है वह उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं से टकर लेता है। अन्तर केवल यह है कि बंकिम ने व्यक्ति के अंतर्जीवन का समाज के बाह्य जीवन से संघर्ष दिखाकर दोनों के सामंजस्य का मार्ग निर्देशित किया है और उनके समसामयिक पाश्चात्य लेखकों ने केवल संघर्ष की तीव्रता दिखा कर ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ माना है।

बंकिम के बाद रवीन्द्रनाथ की ‘चोखेर वाली’ (आँख की किरकिरी) में सब से पहले मनोविज्ञान आया है जिसकी चरम परिणति रवीन्द्रनाथ ने ‘घरे बाइरे’ में की है। ‘चोखेर वाली’ में रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के साथ केवल खेला है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान न अपने गहरे रूप में आया है, न वह अपनी सार्थकता ही प्रमाणित कर पाया है। पर ‘घरे बाइरे’ (‘घर और बाहर’) में गहन मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किये गये हैं और अन्तर्जीवन के साथ बाह्य जीवन के संघर्ष का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया गया है जो उच्चकोटि की औपन्यासिक कला की प्रधान विशेषता है। पर उस संघर्ष को रवीन्द्रनाथ ने जीवन का एक मात्र सत्य नहीं माना है। सभी श्रेष्ठ आदर्शवादी कलाकारों की तरह उन्होंने उक्त संघर्ष के द्वारा जीवन के सामंजस्य का सूत्र पकड़ा है। उन्होंने बाह्य जीवन की उपेक्षा नहीं की है; पर अन्तर्जीवन से रहित जीवन को महत्व देना उनके समान वास्तविक अर्थ में महान कलाकार के लिये असम्भव था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्चन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरत्चन्द्र अपने मनोविज्ञान में बहुत सँभलने पर भी उलझ कर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उनमें प्रायः अभाव था। फल यह देखने में आया कि उनके अधिकांश उपन्यासों के जो

नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त दुर्बल-चरित्र और समाजघाती उतरते हैं उनके प्रति उन्होंने पूर्ण सहानुभूति प्रतिष्ठित करके उन्हें आदर्श रूप में पाठकों के आगे रखा है। यह कमी रवीन्द्रनाथ में कभी नहीं रही। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि जैसी पैनी रही है वैसी ही तीखी उनकी बौद्धिक निरपेक्षता भी रही है। यही कारण है कि क्या 'चोखेर वाली' में और क्या 'घरे बाइरे' में वह अपने प्रधान पात्रों के चरित्र-चित्रण में कहीं नहीं उलभे।

आश्चर्य की बात है कि शरत् का जादू हिन्दी के आलोचकों तथा पाठकों पर व्यापक रूप से छा गया, किन्तु हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार उस जादू के प्रभाव से एकदम मुक्त रहे। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कला का प्रभाव जिस हद तक हमारे कुछ विशेष उपन्यासकारों पर पड़ा उस हद तक हमारे आलोचकों पर नहीं पड़ा। उदाहरण के लिये जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाइरे' का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट है। 'घरे-बाइरे' का नायक निखिलेश जिस प्रकार अपनी पत्नी विमला की व्यावहारिक तथा मानसिक गतिविधि के प्रति उदार भाव रखता है और खतरा देखते हुए भी उसे पदों से बाहर निकालने में सक्रियता दिखाता है, उसी प्रकार 'सुनीता' का नायक श्रीकान्त भी अपनी पत्नी सुनीता के प्रति अत्यधिक उदार रहता है और उसे घर की तङ्ग चहारदीवारी से बाहर विश्व के मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विचरने के लिये छोड़ देना चाहता है। जिस प्रकार 'घरे-बाइरे' में क्रान्तिकारी संदीप विमला से घनिष्ठता बढ़ाता है और उसे केवल अपने दिल की रानी नहीं, बल्कि अपने दिल की भी 'भग्वतीरानी' बनाना चाहता है और निखिलेश उसमें सहायक होता है, उसी प्रकार 'सुनीता' में क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुए भी अपने दिल के बीच में भी उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है; और सुनीता का पति श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के बीच की घनिष्ठता में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विमला पतन के गढ़े में गिरते-गिरते सँभल जाती है, उसी प्रकार सुनीता भी ऐन मौके पर केवल स्वयं सँभल नहीं जाती बल्कि हरिप्रसन्न को भी सँभाल लेती है।

पर यह सब होते हुए भी यदि कोई पाठक 'सुनीता' की मौलिकता में लनिक भी संदेह करे तो वह अपनी घोर अज्ञता का परिचय देगा। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गए हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के। निखिलेश, विमला और संदीप क्रम से श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न से ऊपरी साम्य रखते हुए भी दोनों पक्ष मन की गुथियों और जटिलताओं में एक दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के पात्रों की जटिलता मनोवैज्ञानिक उतनी नहीं है जितनी कि सैद्धांतिक। उनके प्रत्येक पात्र के जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर और निश्चित बने हुए हैं। जैनेन्द्र जी के पात्रों के भी किसी हद तक अपने कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं, पर साथ ही उनके मन की गुथियाँ बहुत ही अधिक उलझी हुई हैं। अपने पात्रों की उन जटिल गुथियों को सुलभाने की जो दिक्कत जैनेन्द्र जी को पड़ती है वह रवीन्द्रनाथ को नहीं पड़ती। जैनेन्द्र जी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने उन जटिल गुथियों को बड़ी सफाई के साथ सुलभाने की चेष्टा की है और पूरी नहीं तो काफी हद तक उसमें सफलता पाई है। हरिप्रसन्न जैसे अज्ञेय और गुमसुम व्यक्ति के मन के गहनतम स्थान में दबी पड़ी उलटी-सीधी प्रवृत्तियों की जटिल और कुटिल गाँठों को एक-एक कर सुलभे हुए रूप में पाठकों के आगे रखना किसी साधारण योग्यता वाले लेखक के बूते की बात नहीं है। यही बात सुनीता के समान जटिल-प्रकृति नारी के रहस्यमय मनोजाल के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही वह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रवीन्द्रनाथ का संदीप extravert (बहिरोन्मुख) है और जैनेन्द्र जी का हरिप्रसन्न introvert (अंतरोन्मुख)। दोनों में यह मूलगत अंतर है। इन सब कारणों से दोनों उपन्यासों में ऊपरी साम्य देखकर पाठकों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

'सुनीता' में जैनेन्द्र जी का वही उद्देश्य रहा है जो किसी भी श्रेष्ठ कलाकार का रहना चाहिये। इनके पात्र अंतर्जगत् में भटकते हुए बहिर्लोक में अपने विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष चलता है और

अन्त में दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण कर वे जीवन में सामंजस्य का सूत्र पकड़ने की ओर उन्मुख होते हैं। जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिकता की सार्थकता इसी बात पर है।

उपन्यास-कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पंडित अरस्तू का भी मत रहा है। वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचंड आंतक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के ज्ञालन (और स्वभावतः उन्नतीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के ज्ञालन और उन्नतीकरण में सहायता पहुँचाता है। जैनेन्द्रजी की 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की निर्मम मनो-वैज्ञानिकता इसी कारण सार्थक है, और उनका उद्देश्य संकीर्णप्राण 'मनोवैज्ञानिक' आलोचक की छिद्रान्वेषी हीन दृष्टि को भले ही समाजघाती लगे, पर वास्तव में वह कल्याणोन्मुखी है। 'कल्याणी' दरअसल 'कल्याणी' है, पर उसके भीतर निहित कल्याणीयता की खोज के लिये वास्तविक अर्थ में निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और साथ ही स्वस्थ और सबल साहित्यिक संप्राणता होनी चाहिये, नहीं तो क्षीणप्राण छिद्रान्वेषी आलोचक उसमें विनाश और वीभत्सता के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पावेगा।

कुछ आलोचकों ने आधुनिक मनोविज्ञान के व्याकरण का किंचित ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अपने उसी अधूरे व्याकरण-ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि से जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिक रचना की छानबीन की है और उन्हें समाजघाती तथा अकल्याणकारी बताया है। मनोविज्ञान के इन अधकचरे प्रूफरीडरों को इस बात का पता नहीं है कि कोई भी प्रतिभाशाली कलाकार किसी भी मनोविज्ञान-स्कूल के व्याकरण का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उल्टा मनोविज्ञान उसके गहन जीवन-संबंधी अनुभवों के अनुसार अपने निर्णयों में सुधार करता रहता है।

जैनेन्द्रजी वास्तविक अर्थ में हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता में (जिसमें या तो किसानों तथा जमींदारों के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतलों का खेल

दिखाया जाता था या काव्य-जगत के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वांग भरा जाता था) सप्राण और अन्तर्संघर्षशील पात्रों की सजीवता भर दी ।

जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास क्षेत्र में अज्ञेय जी का नाम लिया जा सकता है । अज्ञेय जी की 'शेखर: एक जीवनी' दो खंडों में प्रकाशित हुई है । वास्तव में उपन्यास के पारिभाषिक अर्थ में इस रचना को उपन्यास नहीं कहा जा सकता । यह जीवनी, उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई चीज है । प्रथम खंड में अक्सर एक-एक, दो-दो पैरा के बाद नया प्रकरण आरम्भ हो जाता है, और अधिकांश स्थलों में प्रत्येक प्रकरण अपने आप में समाहित-सा लगता है और बहुत से स्थलों में उन छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रकरणों में मूल 'जीवनी' संबंधी कोई बात कही जाने के बजाय लेखक ने अपने स्वतन्त्र दार्शनिक-विचार संबंधी उद्गार प्रकट किए हैं । दूसरे खंड में कुछ संबद्धता अवश्य पाई जाती है, पर खंडित प्रकरणों से वह भी अछूता नहीं है ।

यह सब होते हुए भी हमने 'शेखर' की गणना मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इन कारणों से की है—एक तो यह कि जब तक इस कोटि की मिश्रित रचना का कोई निश्चित और स्वतंत्र नामकरण नहीं हो जाता तब तक उसे उपन्यास कहना ही होगा; दूसरे उसकी समग्रता को यदि लिया जाय तो मानना होगा कि लेखक ने अपने नायक के चरित्र का विकास मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कराया है, यद्यपि वह मनोवैज्ञानिकता बीच-बीच में दार्शनिक रूप धारण कर लेती है ।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शेखर के चरित्र का विकास एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ—और वह आधार है उसका अत्यन्त गहन, तीव्र, सर्वगामी और सर्वग्रासी अहंभाव । अपने इस गहरी जड़ों वाले अहंभाव को शेखर नाना कलात्मक रङ्गों से रञ्जित और विचित्र दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपुष्ट करता चला जाता है । व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उच्चतम ध्येय माना है, और शारीरिक बुद्धि को पद

जाने के बाद इस सम्बन्ध में सन्देह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि लेखक का अपना दृष्टिकोण भी यही है।

प्राचीन युग से लेकर आज तक जितने भी श्रेष्ठ कलाकार या दार्शनिक हुए हैं उन सबने व्यक्ति के अहंभाव के एकाङ्गीय विकास-मूलक साधना को केवल समाजघाती ही नहीं बल्कि आत्मघाती भी बताया है। शेखर की अहंभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिए उन्मुख होती चली गई है वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श सम्बन्धी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से—पाठकों के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो, 'शेखर' का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक कौशल महत्वपूर्ण है।

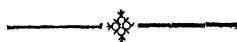
मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेयजी से ठीक उलटा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सब से घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष कोई बात उठा रखना नहीं चाहता। आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत-कुछ परिचित भी रहता है। और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुड़ते चले जा रहे हैं—किन्तु विपरीत दिशा

में । अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा । यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है ; अर्थात् वह शस्त्र युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है । सामाजिक पदों के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है । चूँकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार बाह्य जगत् में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, इसलिये उपन्यासकार को अत्यंत जटिल प्रकृत पात्रों का विश्लेषण अत्यंत गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है । ऊपरी स्तर पर नजर डालने वाले पाठक उसे न समझ पाने के कारण उकता जावें तो कोई आश्चर्य नहीं । अन्य उपन्यासकारों की चर्चा यहां पर चलाना मैं इसलिये व्यर्थ समझता हूं कि उनमें से किसी का मनोविज्ञान तो मनोविज्ञान की आरंभिक स्थिति, अर्थात् भाव-विज्ञान (Science of emotions) को भी पार नहीं कर सका है और किसी का मनोविज्ञान इस आरंभिक अवस्था को भी नहीं पहुँच पाया है ।

हर युग में, हर देश में और हर काल में प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार द्वारा अन्तर्जीवन का सत्य ही प्रधान सत्य माना गया है, माना जा रहा है और माना जायगा । बीच-बीच में कट्टर भौतिकतावादी दार्शनिकों अथवा राजनीतिक क्रांतिकारियों की तूती साहित्य में क्षणिक रूप से बोल उठी है, पर वह अन्तर्जगत् के प्रचंड सत्य की भीषण बाढ़ में बह चली है । एक मात्र वही राजनीतिक, सामाजिक अथवा दार्शनिक मतवाद साहित्य के स्थायी सत्य से किसी हद तक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, जो अन्तर्जीवन के सत्य के आधार पर बाह्य जीवन की परिचालना और बाह्य जगत् की सामाजिक व्यवस्था का पथ निर्देशित

कर सकेगा । आज हमारे कुछ विशेष आलोचक साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्तों का उपहास करने पर तुले हैं, और अपने संगठित साहित्यिक प्रचार-कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को ताक पर रखकर अंतर्जीवन के सत्तों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो बाह्य जीवन-चक्रों के पारस्परिक संघर्ष के रूप में परिष्कृत होते हैं । पर निश्चित रूप से कल उन लोगों को यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक जीवन का सत्य, साहित्य में यथारूप किसी भी हालत में स्वीकृत नहीं किया जा सकता । बड़े-से-बड़े राजनीतिक सत्य को पहले वेष बदल कर अंतर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेषिक उपायों से साहित्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है । यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले कला-मर्मज्ञों ने प्रत्यक्ष अनुभवों के बाद इस परम सत्य को स्वीकार कर लिया है । अभी तक हमारे आलोचकगण हिन्दी की मनोविज्ञान-सम्बन्धी नवीन औपन्यासिक रचनाओं की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य माने बैठे हैं । पर उनकी यह निराधार चेष्टा निश्चय ही चट्टान पर सिर पटकने के बराबर व्यर्थ सिद्ध होगी ।

आज कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओं के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड़ कर आगे निकल गया है । आज वह न पाश्चात्य जगत के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय-प्राप्ति रह गया है न रवीन्द्र अथवा शरत् की औपन्यासिक रचनाओं के आधार का । आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतन्त्र अवयवों के स्वतन्त्र सत्तों को विश्व-साहित्य के प्रांगण में आत्म-विश्वास के साथ रखने का दावा करता है ।



साहित्य का भूत, वर्तमान और भविष्य

भूत से भागने की प्रवृत्ति हमारे साहित्य-समाज में दिन पर दिन जोर पकड़ती चली जाती है। भूतवादियों से स्वयं मेरा कोई विशेष प्रेम नहीं है, और मैं सदा कालिदास की निम्न उक्ति का कायल रहा हूँ:

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात्—“जो-कुछ भी पुराना है, वही अच्छा है सो बात नहीं; और जो-कुछ नया है, वह दोषयुक्त है, ऐसा समझना भी भूल है। ज्ञानी लोग प्रत्येक विषय की (चाहे वह पुराना हो, चाहे नया) पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसके दोष-गुण का निरूपण करते हैं, और मूढ़ लोग (जो कि स्वयं अपनी प्रज्ञा नहीं रखते) दूसरों की देखादेखी (भेड़ियाधसानी मनोवृत्ति का अनुसरण करते हुए) किसी भी विषय को अवसरानुरूप अच्छा या बुरा कहने लगते हैं।”

कालिदास ने यह श्लोक तब लिखा था, जब उन्होंने अपनी प्रथम साहित्यिक कृति (‘मालविकाग्निमित्र’ नामक नाटक) जनता के सामने उपस्थित की थी। यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उस समय कालिदास नवयुवक थे, पर थे प्रतिभाशाली (जिसका प्रमाण बाद में लोगों को भलीभाँति मिल गया था)। उन्हें सन्देह था (जैसा कि स्वाभाविक है) कि चूँकि वह एक नये लेखक हैं, इसलिए एक अपरिचित लेखक की नाट्य-रचना जनता द्वारा आदर की दृष्टि से ग्रहण नहीं की जायगी। इसलिए उन्होंने कलाविदों को ललकार कर कहा कि एक नये लेखक की नई शैलीयुक्त रचना होने के कारण इसे अवज्ञा की दृष्टि से न देखकर एक बार विवेचनात्मक दृष्टि से उसके गुण-अवगुण की परख कर लो। यदि निष्पत्तिपूर्वक विचार करने

पर भी वह दोषयुक्त निकले, तो दूसरी बात है; पर यदि केवल भाव और भाषा के नयेपन के कारण ही तुम उसे दोषी बताओगे, तो यह बड़ा भारी साहित्यिक अन्याय होगा ।

वास्तव में कालिदास की वह प्रथम रचना उस युग के लिए प्रगतिशील थी । उसके पहले जितने भी नाटक संस्कृत भाषा में लिखे गए थे, वे पौराणिक कथाओं के रूपान्तर-मात्र होते थे; उनमें न कवि की मौलिक कल्पना का कोई निदर्शन मिलता था, न नाटकीय प्रतिभा का परिचय । पर कालिदास ने उस प्राचीन परम्परा को एकदम तोड़कर अपनी इस मनोवृत्ति का परिचय दिया कि वह परम्परा की निष्प्राण शृंखला में अथवा किसी विशेष नाटकीय 'स्कूल' के संकीर्ण दायरे में अपने को बाँधकर कवि के मुक्त प्राणों के भीतर दिक्कूलित होनेवाली सजीव कल्पनाओं की हत्या नहीं करना चाहते ।

केवल नाटक के क्षेत्र में ही नहीं, काव्य-क्षेत्र में भी कालिदास ने अपनी प्रगतिशील प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया । उनका 'मेघदूत' इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है । कालिदास के 'क्लासिकल' युग में वास्तव में 'मेघदूत' एक आकस्मिक, अप्रत्याशित और अपूर्वकल्पित रचना थी । निश्चय ही उस युग के संरक्षणीय आलोचकों ने (जिनकी संख्या अवश्य ही काफी रही होगी) उस प्रगतिशील, अभिनव, रोमान्टिक रचना का विरोध बड़े कड़े शब्दों में किया होगा । उस समय की आलोचनाएँ आजकल की तरह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं होती थीं, वरन् पण्डितों की भारी सभाओं में मौखिक रूप से उनकी आवृत्ति की जाती थी । इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि इस प्रकार विद्वत्-समाज के बीच मौखिक रूप से पढ़ी गई आलोचनाओं का प्रचार जितनी द्रुतगति से उस युग में होता था, उतनी शीघ्रता से आजकल की पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनाओं का प्रचार नहीं हो पाता, और न आजकल की आलोचनाओं का पाठक समाज पर उतना गहरा प्रभाव ही पड़ता है । 'मेघदूत' में कालिदास ने 'निचुल' तथा 'दिङ्नाग' का उल्लेख किया है । उन पर टिप्पणी करते हुए मल्लिनाथ ने लिखा है कि वे दोनों कालिदास के समकालीन आलोचक तथा कवि थे । यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि दिङ्नाग ने कालिदास की प्राथमिक रचनाओं में परम्परा का उल्लंघन पाकर

उनकी कड़ी आलोचना की थी, इसीलिए उन्होंने 'मेघदूत' को लक्ष्य करके कहा कि "तुम दिङ्नागादि पुराण-पंथी आलोचकों का पथ त्याग कर आगे बढ़ना ।"

कालिदास केवल अपने पिछले युगों से ही नहीं, स्वयं अपने युग से भी इतने आगे बढ़े हुए थे कि उनका 'मेघदूत' प्रायः आधुनिक युग की एक विशिष्ट रचना-सी लगती है । पर ऐसे प्रमुख प्रगतिवादी होने पर भी उन्होंने कभी उस संस्कृति को अमान्य नहीं बताया, जो परम्परा से अपनी जड़ जमाए हुए थी । वह जानते थे कि रामायण तथा महाभारत के समान विराट् महाकाव्य जिन युगों में रचे गए हैं, उनका पुनरावर्तन कदापि नहीं हो सकता, और उनकी नकल सदा निष्प्राण तथा निष्फल सिद्ध होगी, तथापि उन दो महान् कृतियों के भीतर अपने-अपने युगों की जो मूल शक्तियाँ निबद्ध हैं, वे सब युगों में सजीव और संप्राण रहेंगी और मानवात्मा को महोद्देश्य के लिए प्रेरित करती रहेंगी । कालिदास ने उक्त महाकाव्यों की नकल रश्मिमात्र भी नहीं की; पर अपने युग के प्रगतिशील साहित्य का निर्माण करने के लिए उन्हें जो प्रेरणा प्राप्त हुई, उसके मूल में उन महारचनाओं के अन्तर में निहित, प्राणवेग से चिर-स्पन्दित महान् शक्ति ही थी ।

प्रत्येक महायुग की सामूहिक और सांस्कृतिक शक्ति अपने पीछे एक महत्व का भाव छोड़ जाती है । युग-विवर्तन के साथ-साथ उस शक्ति का रूप बदल जाता है, और उस रूप का बदलना मानवात्मा की सहज प्रगतिशील प्रवृत्ति के विकास के लिए परम आवश्यक भी है, पर वह मूलशक्ति उसी प्रकार संरक्षित रह जाती है, जिस प्रकार रेडियम के भीतर चिर-प्रस्फुटनशील वैद्युतिक अणु निबद्ध रहते हैं । जिन मूल प्राकृतिक शक्तियों ने वर्तमान वैज्ञानिक युग में घर-घर काम आनेवाली तथा नित्य नये औद्योगिक आश्चर्यों की उद्भावना करने वाली बिजली को जन्म दिया है, यदि हम उन्हें आज के अणु-युग में 'आउट आफ़ प्रैशन' कहकर अस्वीकृत करें, तो इस बात से उन शक्तियों का महत्व तनिक भी नष्ट नहीं होगा, भले ही हमारी मूर्ख और मिथ्या दाम्भिकता का निष्फल जयोत्थास उसके द्वारा व्यक्त हो ।

मैं यह कदापि नहीं कहता कि हमें भूतकालीन संस्कृतियों के बन्धन में अपने को जकड़े रहना चाहिए। नहीं; जो व्यक्ति तनिक भी मानवीय बुद्धि रखता हो, वह कभी इस प्रकार की गतिहीनता की बद्ध पंक्तिता में डूबे रहने का उपदेश नहीं देगा। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मानव की चिर-प्रगतिशील संस्कृति का मूल स्रोत जो भूतकाल है, उसे एकदम तिरस्कृत तथा अस्वीकृत करने से हम स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारेंगे। संस्कृति की प्रवाहशीलता नदी की चिर-गतिमान धारा की तरह है। पर यदि हम गंगा के मूल स्रोत गंगोत्तरी पर आधुनिक वैज्ञानिक उपायों से एक सुदृढ़ बाँध खड़ा कर दें, तो क्या उसकी गंगासागरव्यापी प्रगतिशीलता, मूल उत्स के रुद्ध हो जाने से बालू की शुष्कता में परिणत नहीं हो जायगी? हम चिर-नवीन की ओर बढ़ने के लिए कितनी ही कूद-फाँद मचावें पर चिर-पुरातन प्रतिपल (हमारे जान में या अनजान में) भूत की तरह हमारे साथ लगा ही रहेगा, यह ध्रुव निश्चित है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी मूलाधार पर खड़ा हुआ है कि मनुष्य की अन्तश्चेतना में युगों से संचित असंख्य प्रवृत्तियाँ दबी पड़ी हैं, और मनुष्य के सचेत मन को अज्ञात अतल में छिपी हुई वे ही मूलवृत्तियाँ सब समय परिचालित करती रहती हैं। मनुष्य की आत्मा (मेरा आशय Soul से है) के तीन-चौथाई भाग को उसकी अन्तश्चेतना घेर लेती है (जो युग-युगान्त के संस्कारों के संचित कोप के अतिरिक्त और कुछ नहीं), और उसका केवल एक-चौथाई भाग हमारा सचेत मन अधिकृत करता है। तिस पर मजा यह है कि वह एक चौथाई भाग भी अन्तश्चेतना की अज्ञात प्रेरणा के बिना एक तिनका तक नहीं तोड़ सकता। हम भूत की कैसी ही अवहेलना क्यों न करें, पर वह सब समय, प्रतिदिन, प्रतिपल छाया की तरह हमारे साथ लगा ही रहता है। हम उसकी जितनी ही अवज्ञा करते हैं वह उतनी ही अधिक प्रबलता से हमारा गला पकड़ने लगता है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि आधुनिक सभ्य जगत् में स्त्री-पुरुषों में मनोभावनाओं की जो असंख्य उलझी हुई गुत्थियाँ पाई जाती हैं, और उनके फलस्वरूप जो नाना प्रकार की मानसिक विकृतियों का तूफान उनके भीतर सब समय मचता-सा रहता है, उसका मूल कारण यही है कि

आधुनिक मानव अपनी उन मूल प्रवृत्तियों को भूलना और दबाना चाहता है, जो उसे बर्बर युग से, बल्कि उससे भी पहले से प्राप्त हुई हैं। मनोभावनाओं की विकृतियों के निराकरण तथा मानसिक उलझनों के सुलभाव के जो उपाय मनोविश्लेषकों ने बताए हैं, उनमें सर्व प्रधान यह है कि हम अपनी उन आदिम—प्राथमिक—प्रवृत्तियों को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करने के बजाय उन्हें सहज रूप में ग्रहण करें, और जिस मूलशक्ति-स्रोत से हमारी वे प्रवृत्तियाँ युगों पहले प्रस्फुटित हो चुकी हैं, उसे मुक्त हृदय से अपनावें, और अपनावे के बाद यह प्रयत्न करें कि इस मूलशक्ति को हम मानवीय संस्कृति के विकास के सुन्दर से सुन्दरतर स्तरों की ओर प्रेरित और परिचालित करने में समर्थ हो सकें। प्रगति की हमें परम आवश्यकता है; पर वह प्रगति हमारे अन्तर्द्वन्द्वों से उत्पन्न प्रतिक्रिया की पूँछ न हो, बल्कि वह उसी मूलशक्ति के सहज विकास का स्वाभाविक प्रतिफल हो, जो बर्बर-युग के मनुष्यों में अपनी अज्ञात प्रेरणा से उन्मद नृत्योल्लास की भावना जागरित करती थी; वैदिक युग में जिसने वाह्य प्रकृति के चित्र-विचित्र सौन्दर्य का प्रभाव मानव की अन्तर-प्रकृति में डालकर दोनों को एक रूप में मिलित होने के लिए प्रेरित किया; रामायण के युग में जिसने एक अत्यन्त उन्नत सामाजिक व्यवस्था के उच्च आदर्श, महत् आत्म-त्याग की भावना के ज्वलन्त निदर्शन और नारीत्व की अनन्त महिमा के चरम कारुणिक स्वरूप की ओर मानवीय कल्पना को उन्मुख किया; महाभारत काल में जिसने मानव-जाति की सर्वतोमुखी प्रतिभा के चरम विकास तथा परम हास की जीवन-मरण-लीला के परिपूर्णता-प्राप्त अखिल ताण्डव-नर्तन का विस्फूर्जित रूप जनता के आगे रखा; कालिदास के युग में जिसने मानव-मन की सुन्दर, सरस तथा सुकुमार मनोवृत्तियों के सहज स्फुरण की इन्द्र-धनुषी माया का चित्रण करके अमिट रंगों से विश्वात्मा को रँग दिया; तुलसीदास के समय में जिसने श्रद्धा-विभोर भाव-प्रवणता के उद्दाम प्रवेग से जन-मन को आप्लुत कर दिया; और रवीन्द्रनाथ के युग में जिसने एक ओर रोमान्टिक रहस्यवाद की विश्वमोहिनी माया से और दूसरी ओर कठोर जीवन संघर्ष की घन-विषादाच्छन्न छाया से मानव-चेतना को एक छोर से दूसरे छोर तक उद्वेलित कर दिया।

हमें यह बात प्रतिक्षण ध्यान में रखनी होगी कि मानवीय उत्पत्ति के आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक मूल प्रवृत्तियों का एक अच्छेय तार, एक अटूट लड़ी अपना अस्तित्व कायम रखती है। जब-जब अपनी आधिभौतिक सभ्यता के विकास-जनित गर्व से स्फीत अहंवादी मनुष्यों ने उस तार को छिन्न करना चाहा है और एक मूलतः नई संस्कृति और नई सभ्यता की स्थापना का ढोंग रचकर पिछली सभ्यताओं के अवशिष्ट संस्कारों को जड़ से उखाड़ फेंकने का औद्धत्य प्रदर्शित किया है तब-तब संसार में महाउत्पात मचे हैं, जिनके फलस्वरूप मानव-जाति को महान् कष्ट सहन करने पड़े हैं और प्रगति की ओर बढ़ने के बजाय मानवता को दुर्गति के गहन गर्त में गिरते हुए देखा गया है।

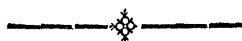
फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के मूल उन्नायक रूसो ने संसार के इतिहास में सबसे पहले जन-साधारण के जागरण का मन्त्र उच्चारित किया, जिसका आशय इस प्रकार है: “मनुष्य एक स्वाधीन प्राणी के रूप में जन्म लेता है, पर संसार में वह सर्वत्र पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ पाया जाता है।” अपने ‘ले कोंत्रा सोशियाल’ नामक विश्व विख्यात ग्रन्थ में उसने जन-साधारण की दलित अवस्था के विरुद्ध जिस भयंकर विद्रोह की घोषणा की, उसी के फलस्वरूप बाद में फ्रान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति भड़क उठी। पर चूँकि उसके शिष्यों ने उसके सिद्धान्तों को मनमाने रूप से तोड़-मरोड़ कर विकृत रूप में उनका प्रचार किया, इसलिए फल यह हुआ कि फ्रान्सीसी जनता का जागरण मानव-समाज को वास्तविक प्रगति तथा उन्नति के पथ की ओर ले जाने के बजाय केवल एक विनाशकारी सभ्यता की अस्थायी दानवी माया की सृष्टि करने में सफल हुआ। रूसो ने यह कभी नहीं कहा कि दलित जनता को जन्मसिद्ध समान-अधिकार प्राप्त करने में सफलता तभी मिल सकती है, जब वह पिछले युगों की संस्कृतियों को जड़ से उखाड़ कर उन्हें धरातल से लुप्त कर दे। उन संस्कृतियों की ऊपरी तह पर विकृतियों की जो काँड़े लग गई थी, उसे निकाल कर अलग फेंकने के पक्ष में वह अवश्य था; पर उनके मूल में जो शक्ति निबद्ध थी, उसे सम्पूर्ण आत्मा से अपनाने का उपदेश उसने दिया था। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि

रूसो अपने युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी होने पर भी वैज्ञानिक उन्नति को मानवीय विकास की सहज, स्वाभाविक प्रगति के पक्ष में घोर हानिकर बताता था। वह सभ्यता के आदिम युग के मनुष्यों की जीवनचर्या का जबर्दस्त प्रशंसक था। पर उसके शिष्यों ने इसके बिलकुल विपरीत मत का प्रचार करना आरम्भ किया। उन लोगों का कहना था कि ज्ञान की जो धारा सभ्यता के प्रारम्भिक काल से लेकर उनके समय तक प्रवाहित होती आई है, उसे एकदम सुखा देना होगा और उस “पुरानी, सड़ी-गली” सभ्यता तथा संस्कृति के स्थान में एक मूलतः नयी और प्रगतिशील संस्कृति की स्थापना करनी होगी। मूलशक्ति-स्रोत को तिरस्कृत करके ‘प्रगतिशील सभ्यता’ के उन अग्रदूतों ने जो राज्यक्रान्ति मचाई, उसका परिणाम कैसा घोर विनाशक और प्रतिक्रियात्मक सिद्ध हुआ, इस बात से इतिहास के पाठक भली भाँति परिचित हैं। उस क्रान्ति के फलस्वरूप निरर्थक जन-संहार हुआ, नेतागण आपस में ही लड़कर कट मरे, जनता प्रगति के पथ पर एक पग भी आगे न बढ़ सकी, बल्कि पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक दुर्गति के चक्रजाल में जकड़ गई। जन-जागरण की उस महाक्रान्ति की चरम परिणति नेपोलियन के समान एक ऐसे परम अवसरवादी डिकटेटर के उत्थान में हुई, जिसने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए (वर्तमान युग में हिटलर के समान ही) समस्त यूरोप को अपने पैरों तले रौंद डाला और प्रलयंकर रक्तपात मचाकर स्वाधीन राष्ट्रों को दासत्व की शृंखला में बाँध दिया। “स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व” का स्वप्न उसी दम छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिए मैंने कहा है कि मानवीय संस्कृति के विकास की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रगति को रुद्ध करके एक मूलतः नयी (और स्वभावतः कृत्रिम) संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा मानव-जाति के दाम्भिक नेताओं द्वारा जब-जब हुई है, तब-तब उसका उलटा परिणाम हुआ है।

जिस प्रकार फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति की विक्रान्ति के फलस्वरूप नेपोलियन के समान जालिम डिकटेटर का उत्थान हुआ, ठीक उसी प्रकार हमारे युग में हिटलर का बोलबाला हुआ, जिसने नेपोलियन से भी अधिक उग्रता से अपनी महत्वाकांक्षा की अभि-शिखाओं से सारे संसार को आच्छादित कर लिया

है। वतमान महायुद्ध इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि इस युग की संस्कृति फिर एक बार बर्बर युग की मनोधारा को पूर्ण रूप से अपना चुकी है; अथवा यह कहिए कि ऊपरी प्रगति के कोलाहल के नीचे, सभ्यता के भीने पदों के अन्तराल में जिस बर्बरता को मनुष्य अपने अनजान में अपनाता चला जाता था, वह वर्तमान समय में चरम परिणति को प्राप्त होकर, सभ्यता के ढोंग-भरे पदों को फाड़कर अपना वास्तविक हिंसक रूप प्रकट कर रही है। शरज यह है कि चाहने पर भी मनुष्य भूत से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि वह अपनी परम्परागत विकृतियों का विकास करना चाहता है या संस्कृतियों का। मानव-समाज की भूतकालीन संस्कृतियों को 'सड़ी-गली' बताकर उनके मूलोच्छेदन का उपदेश जनता को देकर आप आसानी से प्रगति के उपासक मान लिये जायेंगे, पर ऐसा करने के पहले आपको एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। प्राचीन संस्कृतियाँ बीज रूप में जो जीवनी शक्तियाँ आपको प्रदान कर गई हैं, उन शक्तियों के मूलतत्त्वों को ग्रहण न करने से स्वभावतः आप मानव-प्रकृति की परम्परागत विकृतियों को पूर्णरूप से अपनाने के लिए बाध्य होंगे। आपके लिए केवल दो मार्ग हैं—या तो आप पिछले युगों की संस्कृतियों से प्राप्त शक्ति-तत्त्वों को ग्रहण करके उनके विकास द्वारा वास्तविक प्रगति का अनुसरण करें, या उन संस्कृतियों के निम्नस्तर में समानान्तर रेखा से विकासशील जो मानवीय विकृतियाँ हैं, उनका जयघोष निनादित करें। इन दो मार्गों में से एक को अपनाना आपके लिए अनिवार्य है। तीसरे किसी भी पथ पर चलने की चेष्टा शून्य में चलने के बराबर होगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पृथ्वी का माध्याकर्षण आपको बुरी तरह जमीन पर पटक कर छोड़ेगा। मार्क्सानुगामी रूसी क्रान्ति के नेताओं ने समता का आदर्श प्रतिष्ठित करने का प्रयास करके एक महान् सदुद्योग किया था, यह बात माननी ही पड़ेगी; पर उनकी भूल यह रही कि उन्होंने भूतकालीन मानवीय संस्कृतियों के बीज-रूप में अवशिष्ट चिह्नों को मूलतः विनष्ट करना चाहा। बाद में वे स्वयं अपनी इस भूल को महसूस करने लगे।

साहित्य में सच्ची प्रगति का स्वर हम जितना अधिक ऊँचा कर सकें उतना ही वह मानवीय सांस्कृतिक विकास के लिये हितकर होगा। पर प्रगति का अर्थ यदि हम केवल नये युग का अस्थायी साहित्यिक फैशम मानें तो इससे बड़ी घातक भूल दूसरी नहीं होगी। मुझे पूरा विश्वास है कि निकट भविष्य में हमारे साहित्य-जगत् में सच्चे अर्थ में प्रगतिशील कलाकारों का उद्भावन होगा जो भूत और वर्तमान की संस्कृतियों के मूल बीजक शक्तियों के सामंजस्य द्वारा लाभान्वित होकर वास्तविक विश्व-कल्याण की आंतरिक प्रेरणा से भविष्य के लिये अग्रसर होंगे। इस लेख द्वारा मैं उन आने वाले तरुण महात्माओं के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ।



विश्व-साहित्य में मनोविज्ञान

मनोविश्लेषण केवल इसी युग की विशेषता नहीं है, बल्कि बहुत प्राचीन काल से, जब से साहित्य-कला के वास्तविक विकास का आरंभ हुआ तभी से, मनोविश्लेषण लेखकों और कवियों के ज्ञान में या अनजान में, अपने आप, सांस्कृतिक प्रगति के स्वाभाविक नियम के क्रम से, साहित्य में प्रवेश पा गया। वेदकालीन संदर्भों, काव्योच्छ्वासों और उपाख्यानो में हमें मनोभावनाओं के विवेचन और विश्लेषण के आदिम प्रयास का परिचय मिलता है। उपनिषद् कालीन साहित्य में क्रांतद्रष्टा ऋषियों और कवियों ने इस विज्ञान को प्रायः चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। मानव-मन के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर विश्लेषण द्वारा ही वे लोग आत्मा के अणोरणीयान और महतोमहीयान रूप से परिचित हो पाये थे। पर उपनिषत्काल में उस रसमय और कलात्मक साहित्य का कोई विशिष्ट और निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाया था जिसका परिचय हमें रामायण और महाभारत काल तथा उसके परवर्ती युगों से मिलता है।

रामायण में कवि ने अपने विभिन्न पात्रों का चरित्र-चित्रण ऐसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तूलिका से किया जो तत्कालीन साहित्य प्रेमी जनता के लिए एक नयी चीज थी। मनोवैज्ञानिक सिद्धांत उस युग में तत्कालीन युग-चिंतकों की अनुभूतियों के अनुसार निश्चय ही वर्तमान रहे होंगे। पर मनोवैज्ञानिक सिद्धांत एक चीज है और रसमय साहित्य में मानवीय जीवन के मूलगत रहस्यों का परिचय मनोविश्लेषण के आधार पर देना तथा काव्य-कथा के पात्र-पात्रियों के जीवन का यथार्थ मूल्यांकन उनकी मानसिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन द्वारा करना बिल्कुल दूसरी चीज। रामायण में साहित्य-मर्मज्ञों ने यही विशेषता पायी, जो वेदकालीन रसात्मक साहित्य में केवल आभास रूप में वर्तमान थी।

महाभारत में, जिसकी गिनती में रसात्मक और कलात्मक जीवन-साहित्य के चरम निदर्शनों में करता हूँ, यह मनोवैश्लेषिक कला रामायण की अपेक्षा ऊँचे और साथ ही अधिक गहरे स्तरों तक पहुँच गई थी। महाभारतकार ने अपने काव्यात्मक उपन्यास या औपन्यासिक महाकाव्य में ऐसी गहन और जटिल मानसिकता-समन्वित पात्रों की अवतारणा की है जिसका जोड़ विश्व-साहित्य में मिलना कठिन है। यही कारण है कि पाश्चात्य समीक्षक ऐसी विराट और गहन साहित्यिक कृति का ठीक-ठीक मूल्य-निर्धारण करने में बराबर असमर्थ रहे हैं। उस अगाध सागर में उन्हें तूफानी प्रकृति के पात्र-पात्रियों के जो आत्म-विरोधी रूप मिलते हैं, महात्माओं के समकक्ष रखे जाने वाले पात्रों में निम्नतम कोटि की मानसिक दुर्बलताओं का जो सूक्ष्म विश्लेषणात्मक परिचय मिलता है, और विविध मानवीय मूल्यों के परस्पर विरोधी रूपों को यथार्थ जीवन में समन्वयात्मक रूप में प्रयुक्त करने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, वह पाश्चात्य बुद्धि को कुंठित कर देती है। महाभारत में हम देखते हैं कि भगवान की कोटि में रखे जाने वाले अमित प्रतापवान् अतुलित प्रतिभा-शाली, अपरूप आध्यात्मिक तेज से प्रदीप्त कृष्ण अपने पुराने वैरी मगधाधिपति जरासंध की हत्या अत्यन्त कायरतापूर्ण ढंग से करने की सलाह पांडवों को देते हैं। उनकी सलाह से पांडवगण गुप्त वेष बनाकर ब्राह्मणों के रूप में उसके महल में प्रवेश करते हैं और फिर मल्लयुद्ध में अनुचित रीति से उसकी हत्या कर डालते हैं। कृष्ण अंत तक इस हीन षडयंत्र में उनका साथ देते हैं। अपने इस अगौरवशाली कृत्य की सफाई देते हुए कृष्ण कहते हैं कि जरासंध को प्रकट युद्ध में जीत सकने की समर्थता किसी में नहीं है; और यदि पांडव उत्तर भारत में एकाधिपत्य चाहते हैं तो उसकी हत्या अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए गुप्त षडयंत्र रचना ही उचित है! जरासंध के प्रति कृष्ण के व्यक्तिगत विद्वेष की बात पहले ही कही जा चुकी है। उसी प्रकार अर्जुन को यह सलाह देना कि वह उनकी बहन सुभद्रा को भगा ले जावे, क्योंकि ऐसा न करने से वह न जाने किसके प्रति आसक्त होकर वरमाला पहना बैठे, कृष्ण के चरित्र के एक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर प्रकाश डालता है। मानवीय ज्ञान का चरम सार गीता के रूप में समझाने के लिए अहिंसाव्रती

कृष्ण युद्ध से नैतिक कारण से विरक्त होनेवाले अर्जुन को उपदेश देते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि सामूहिक हिंसा-कांड से कतराना ज्ञानी के लिए किसी प्रकार भी उचित नहीं है। ये सब मनोवैज्ञानिक तथा अति-मनोवैज्ञानिक उलझनें हैं जिन्हें महाभारतकार के समान महान मनीषी ही सुलझा सकता था। धर्मराज युधिष्ठिर को जुए की हीनतम प्रवृत्ति में लिप्त दिखाने, और उसे अपनी पत्नी तक को दांव में रखकर पतन की चरम सीमा तक पहुँचा देने के लिए जितने बड़े साहस की आवश्यकता थी वह किसी साधारण मनोवैज्ञानिक कथाकार के बूते की बात नहीं थी। केवल इतना ही नहीं, उस एकवस्त्रा रजस्वला नारी की भरी सभा में दुर्गति होते देखकर भीष्म और द्रोण जैसे परम तत्ववेत्ता धर्मनिष्ठ और प्रतापी वयोवृद्धों के कायरतावश मौन साधे बैठे रहने का जो चित्र महाभारतकार ने खींचा है उससे उन महापुरुषों की मनोवैज्ञानिकता के एक रहस्यपूर्ण पहलू पर प्रकाश पड़ता है। विराट सभा में कीचक-पीड़ित पतिव्रता द्रौपदी जिन शब्दों में अपने पतियों—विशेषकर युधिष्ठिर और अर्जुन—की प्रताड़ना करती है उनसे धर्मराज युधिष्ठिर और महाबाहु अर्जुन के छिपे हुए, किन्तु यथार्थ, रूपों का परिचय मिलता है। जुआप्रेमी युधिष्ठिर की नैतिक दुर्बलता और निकम्मेपन पर प्रकाश डालकर वह उनकी धार्मिकता की आड़ में छिपी हुई वास्तविकता की पोल खोल देती है। उसी प्रकार बृहन्नला के रूप में विराट की राजकन्याओं को नृत्य-गीत सिखाने वाले अर्जुन की दमित प्रवृत्तियों पर भी वह काफी रोशनी फेंकती है। स्वयं द्रौपदी की कई मनोवैज्ञानिक उलझनों को महाभारतकार ने पाठकों के आगे रखा है। द्रौपदी कभी तो पाँचों पतियों पर समान प्रेमभाव बरतने के लिए सचेष्ट दिखायी देती है, कभी अर्जुन के प्रति उसकी विशेष प्रीति प्रकट होती है; कभी वह सौम्य-शान्त अबला नारी के रूप में हमारे सामने आती है और कभी प्रचंड प्रतिहिंसापरायण, रक्त के बदले रक्त की चाहना करने वाली चंडी के रूप में हुंकार उठती है। कर्ण और कुंती को लेकर जिस अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक मनोवैज्ञानिक विवेचन का परिचय महाभारतकार ने दिया है वह आज के प्रगतिशील युग के, नयी खोजवाले मनोवैज्ञानिकों में भी दुर्लभ है। जारिणी माता का जार पुत्र के प्रति दीर्घकाल तक छिपाया

और दबाया हुआ स्नेह जब महायुद्ध के ठीक पूर्व फूट पड़ता है तब जन्म से परित्यक्त पुत्र का स्वाभाविक अभिमान जिन संयमित शब्दों में प्रकट होता है वे अपूर्व हैं ।

महाभारत के बाद हमें प्राचीन नाटकों में मनोविश्लेषण के आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । कालिदास ने अपनी रचनाओं में केवल मानवीय मनोविज्ञान ही नहीं, बल्कि पशुओं के भी गहन मनोविज्ञान का परिचय दिया है । उनके जगत-प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुंतल' में विभिन्न पात्र-पात्रियों के मनोभावों का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह उस युग को ध्यान में रखते हुए आश्चर्य-जनक लगता है । कहा जाता है कि मनुष्य के अवचेतन मन के अस्तित्व की सूचना पहले पहल फ्रायड ने संसार को दी । यह दावा कितना भ्रामक है, भारतीय मनोविज्ञान से परिचित पाठकों से यह छिपा न होगा । हमारे यहाँ मन के जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है । कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतल' में मनोविश्लेषण के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि अवचेतन मन के रहस्यों का पता हमारे कवि को था । मैं यहाँ पर केवल एक उदाहरण दूँगा । कण्व मुनि के आश्रम से दुष्यंत के राजधानी में लौट आने के कुछ समय बाद की घटना है । दुष्यंत अनमने भाव से अपने प्रासाद में बैठे हैं । सहसा किसी कलकंठ से निकला हुआ संगीत-स्वर सुनायी देता है । गीत का आशय यह है: "हे भ्रमर ! तुम मधुलोलुप हो, पर किसी एक पुष्प के प्रति तुम्हारा स्थिर प्रेम नहीं है । कल तक तुम आम की सरस मंजरी का रस बड़े चाव से ग्रहण किया करते थे । पर अब उससे तुम्हें विरक्ति हो गई है और अब तुम कमल के प्रति आकर्षित हो गये हो ।"

उपेक्षिता हंसपदिका का उलाहना दुष्यंत समझ लेते हैं और उसके प्रति सांत्वना का संदेश भेज देते हैं । पर फिर भी उनके मन में एक अजीब-सी बेकली समायी रहती है । वह गीत-स्वर निरंतर उनके कानों में गूँजता हुआ रह-रह कर एक रहस्यपूर्ण उत्सुकता उनके मन में उत्पन्न करने लगता है । पर वह बेकली क्यों है और किसलिए है, इसका कोई कारण उनकी

समझ में नहीं आता । वह अपने-आप से प्रश्न करने लगते हैं : “किन्तु खलु सुहृद्जन विरहाद्रितेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि ?” सुहृद्जनों के विरह के अभाव में भी मैं बरबस क्यों उत्कण्ठित हो उठता हूँ ? बहुत सोचने के बाद अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचते हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ।

अर्थात् रमणीय दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी जन भी जो उत्कण्ठित हो उठते हैं, उसका कारण यह है कि ऐसे अवसरों पर उनकी जाग्रत चेतना में विगत जीवन के प्रेम की वे स्मृतियाँ जागरित हो उठती हैं जो अज्ञातरूप से उनकी चेतना के भीतर भावरूप में बद्ध हैं । ‘अबोधपूर्व’ का मैं यही अर्थ लगाता हूँ—जो इसके पूर्व अबोध अर्थात् बोध के परे अर्थात् अज्ञात रूप में रहा हो । दूसरे शब्दों में वे स्मृतियाँ जो मन के भीतर वर्तमान तो हों, पर भावस्थिर हों (अर्थात् अवचेतना में सुप्त अवस्था में बद्ध पड़ी हों) वे सुन्दर दृश्यों के दर्शन और मधुर स्वरों के श्रवण से जागरित होकर सचेत मन में उठ आती हैं ।

दुर्वासा के अभिशाप से कहिए, या किसी अप्रिय उत्तरदायित्व से मुक्त होने की इच्छा से उसे भूलने के लिए उत्सुक चेतना की चालबाजी से कहिए, दुष्यंत शकुंतला के प्रेम को ऐसे भूल चुके थे, जैसे वह इस जन्म की अथवा जाग्रत अवस्था की कोई घटना ही न हो, बल्कि पूर्व जन्म की या स्वप्नावस्था की घटना हो । पर अवचेतना से संबंधित मनोविज्ञान यह बताता है कि किसी भी अनुभव को भूल जाने की इच्छामात्र से ही उसे भूला नहीं जा सकता । सचेत मन भले ही अपने-आप को ठगने के लिए प्रकट रूप से उसे भूल जाय, पर अवचेतन मन प्रत्येक अनुभव को (विशेषकर दमित अनुभव को) अपने विशाल कोष में बंद रखता है । विशेष-विशेष अवसरों पर उस दमित आकांक्षा या स्मृति पर जब कोई प्रबल धक्का बाहर से पड़ता है तब

वह जागरित होकर फिर सचेत मन में आ टकराती है। दुर्घ्यंत ने शकुंतला की जिस स्मृति को अपने अवचेतन मन में दबा दिया था वह हंसपदिका के विशेष स्वर-ताल-लय-युक्त और सविशेष अर्थ से पूर्ण गीत से धक्का खाकर जग उठने के लक्षण प्रकट करने लगी—यद्यपि पूर्ण रूप से जगी नहीं। क्योंकि अभी पूरे जोर से धक्का लगना शेष था।

जो भी हो, कालिदास के उक्त श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि अवचेतना के अस्तित्व से वह भलीभाँति परिचित थे, और यह भी जानते थे कि जिस बात को हमारा सचेत मन किसी सामाजिक अथवा नैतिक कारण से भुला (अर्थात् दबा) देता है वह लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि अवचेतन मन में भावस्थिर होकर वर्तमान रहती है। उस युग में इस जानकारी का ऐसे विश्लेषित रूप में वर्तमान होना और उसका प्रयोग साहित्य की एक रसात्मक कृति में किया जाना कितनी बड़ी विशेषता थी, यह मनन करने की बात है।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और भवभूति के 'मालतीमाधव' तथा 'उत्तररामचरित' में मनोवैश्लेषिक कला को पूर्णतया अपनाया गया है। आजकल के मनोवैज्ञानिक नाटकों तथा उपन्यासों से कुछ कम मनोविश्लेषण उनमें नहीं पाया जाता।

केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, प्राचीन ग्रीक साहित्य में भी हमें पात्र-पात्रियों के मानसिक विश्लेषण का परिचय मिलता है। ईस्काइलस के 'प्रामेथ्यूस' तथा 'एगेमेमनन', सोफोक्लीज के 'ईडिपस', यूरीपिडीज के 'इफिगीनिया' आदि नाटकों में हमें यह कला काफी गहरे रूप में मिलती है। मध्ययुग के पाश्चात्य नाटककारों में शेक्सपीयर ने सर्जनात्मक साहित्य में मनोविश्लेषण को जितना महत्व दिया था उतना आज के युग में भी शायद नहीं दिया जाता। उसका 'हैमलेट' संसार की समस्त मनोवैज्ञानिक साहित्य-कृतियों में अभी तक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ साहित्य-कलाकारों में गेटे ऐसा कवि हुआ जिसने अपने 'फाउस्ट' तथा दूसरी रचनाओं में मनोविश्लेषात्मक शैली को पूर्ण उत्साह के साथ अपनाया।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी उपन्यासकारों ने भी यह अनुभव किया कि यदि जीवन और जगत् के मूलगत तत्वों के यथार्थ निरूपण तथा जीवन

की अंतरीण और बाह्य समस्याओं के पारस्परिक संघर्ष और मेल के, समुचित मूल्यांकन द्वारा उच्चकोटि के रसात्मक तथा सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण करना है तो मनोवैश्लेषिक कला का सहारा पकड़ना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उन्होंने किया भी यही। फ्रांसीसी उपन्यासकारों के बाद रूसी उपन्यासकारों ने—जिनमें विशेष रूप से डास्टाएव्सकी का नाम लिया जा सकता है—मनोविज्ञान के सूक्ष्मतम रूप को अपनाया। डास्टाएव्सकी के बाद समस्त यूरोप के कलाकारों ने सर्जनात्मक साहित्य में मनोविज्ञान के महत्व को एक स्वर से स्वीकार किया।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ से मनोवैज्ञानिक साहित्य में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। कुछ आस्ट्रियन पंडितों ने—जिनमें फ्रायड, युंग और आडलर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—मनोविज्ञान से संबंधित कुछ ऐसे तथाकथित नये सिद्धांतों की खोज की, जिन्होंने प्रचलित मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक प्रचंड क्रांति की लहर उत्पन्न कर दी। इन 'नये सिद्धांतों' में सबसे प्रमुख बात थी मनुष्य के अवचेतन मन-संबंधी खोज। मैं निर्देशित कर चुका हूँ कि प्राचीन भारतीय मनःशास्त्रवेत्ता इस अवचेतन मन की खोज बहुत पहले कर चुके थे। पर यूरोपवालों के लिए यह निश्चय ही नयी खोज थी। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि शेक्सपीयर तथा गेटे जैसे विश्व-विश्रुत यूरोपियन कवि और मनीषी भी अवचेतन मन के अस्तित्व से अपरिचित थे। वे केवल उसके अस्तित्व से ही नहीं बल्कि उसके गहन रहस्यमय क्रियाचक्र से भी भली भांति परिचित थे। संसार का कोई भी श्रेष्ठ साहित्यिक—चाहे वह किसी भी युग का हो—मानव-मन के गहन और सूक्ष्म रहस्य-चक्रों से अपरिचित रह ही कैसे सकता है? उसकी श्रेष्ठता और विशेषता ही इस मूल तथ्य पर निर्भर करती है कि वह मानव के इस गहन-जाल-जटिल मन की अगाध रहस्यमयता के भीतर डूबकर वहां से जीवन के मूल संचालक तत्वों की खोज और छानबीन करके जगत् की महान समस्याओं को रसात्मक रूप में सामने रखता है और उनके सुलभाव के सुभाव भी अपने दृष्टिकोण से—आभास रूप में दे देता है। पर इतना अवश्य है कि शेक्सपीयर और गेटे, फ्रायड और युंग की तरह अवचेतन मन को कोई निश्चित नाम न दे सके और विशुद्ध कलाकार होने

के कारण न तो उसकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि खड़ी कर सके, न उसके शास्त्रीय विवेचन ही में अपनी बुद्धि को खपा पाये ।

फ्रायड ने चूँकि वैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन संबंधी सिद्धांत की स्थापना की और वैज्ञानिक ही पद्धति से उसका विश्लेषण और विवेचन किया, अतएव इस कोरे वैज्ञानिक युग में उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त लोकप्रिय हो उठी । उसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उसने यौन प्रवृत्ति को मानव-मन (फलतः मानव-जीवन) की मूल परिचालिका शक्ति माना है । उसका कहना है कि सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निंदनीय अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा और वह उस विशेष प्रवृत्ति से संबंधित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है । पर वे दमित मनोवेग एकदम लुप्त नहीं हो जाते, बल्कि उसके सचेत मन के नीचे मन के अवचेतन भाग में एकत्रित होते रहते हैं । इसे फ्रायडियन भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि सचेत मन की अनुभूति के परे दमित मनोवेगों का संचित पुंज ही मानव का अवचेतन मन है । जब विशेष अवसरों पर, किन्हीं असाधारण घटनाओं के धक्के के कारण उन दमित मनोवेगों में भूकंप आ जाता है या मथन-क्रिया आरंभ होने लगती है तब वे सचेत मन द्वारा भूली हुई प्रवृत्तियाँ फिर मन की ऊपरी सतह पर आकर टकराने लगती हैं, और फिर सचेत तथा अवचेतन मन के बीच द्वन्द्व मचता है, जिसके फलस्वरूप विविध प्रकार की मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें अंगरेजी में कहते हैं 'कॉम्प्लेक्स' । फ्रायड ने यह निर्देशित किया है कि हम नींद की अवस्था में—तथा जाग्रत अवस्था में भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बदले हुए रूपों में हमारी दमित यौन-भावनाओं को ही विस्फुटित करते हैं । उसके कथानानुसार, हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन प्रवृत्ति है, और जितनी सुकृतियाँ या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पायी जाती हैं वे भी दमित यौन-प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं । गरज यह कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ानेवाली अथवा विकृति की ओर पीछे धसीटनेवाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-

प्रवृत्ति ! यह कैसा एकांगीय और संकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी। यह ठीक है कि यौन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अणु-शक्ति निहित है, जिसके अनियंत्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन पर भयावह प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनियंत्रण से जीवन के सुचारु संचालन में एक बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पर समस्त मानवीय भावनाओं, मनुष्य की सभी सुख-दुःखमयी वेदनाओं और आकांक्षाओं की मूल नियंता एकमात्र यही प्रवृत्ति है, ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा। असंख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो यौन-भावना से तनिक सी संबंध नहीं रखतीं, और जो मानव के संघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओं की ओर धक्का देती रहती हैं।

फ्रायड के मत से, प्रत्येक व्यक्ति अपने अवचेतन मन का निर्माण अपने ही जीवन काल में स्वतंत्र रूप से करता है, यद्यपि मूल नियम सबके लिए एक ही है। इस भारी भ्रांति को युद्ध ने दूर करने का प्रयास किया है, और उसने 'सामूहिक अवचेतन मन' का सिद्धांत खोज निकाला है, जो भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान के लिए कोई नया सिद्धांत नहीं है। युग का कहना है कि मानव के अवचेतन मन का महत्वपूर्ण निर्माण सामूहिक और सामाजिक कारणों से समष्टिगत रूप से हुआ, व्यक्तिगत रूप से नहीं। आदिमकाल से सभ्यता के विकास-क्रम से मानवीय चेतना में जो नयी-नयी प्रवृत्तियाँ उभरती चली गयीं उनमें समय की प्रगति के साथ-साथ परिवर्तन होते चले गये। पिछली मूल प्रवृत्तियों का विनाश नहीं हुआ, वे सामूहिक मानव के अवचेतन मन में दब गयीं और संस्कार रूप में अवशिष्ट रह गयीं। उनके स्थान पर जो नयी परिवर्तित और सुसंस्कृत प्रवृत्तियाँ आगे आयीं वे भी समय के क्रम से पुरानी पड़ गयीं और सामूहिक अवचेतन मन में जा छिपीं। उन सुसंस्कृत प्रवृत्तियों में नया रंग चढ़ा। और यह क्रम बराबर जारी रहा। जिन पुरानी प्रवृत्तियों को सामूहिक मानव समष्टिगत अवचेतन में दबाता रहा वे आज के मानव के भीतर उसी रूप में संचित हैं। साधारण अवस्था में सचेत मन को उनका पता नहीं चलता, पर असाधारण अवस्था में वे जब पूरे प्रवेग से विस्फुटित हो उठती हैं तब सचेत मन में भारी तहलका मच जाता है।

युंग के मत का भाष्य मैंने अपने ढंग से किया है। मेरे मत से यह सिद्धांत फ्रायडियन अवचेतन के सिद्धांत से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। पर मैं अपने निजी अनुभवों से एक-दूसरे ही सिद्धांत पर पहुँचा हूँ। मेरे मन से मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खंडों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन, अर्द्धचेतन मन तथा अवचेतन मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है, जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवांछित प्रवृत्तियों का हम दमन करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में जाकर उन्हीं में धुलमिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक-न-एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओं में एक नहीं अनेक स्तर, एक साथ दूसरे से टकराते हुए, सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचंड मानसिक भूकंप की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठकर तूफान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है। पर इतना संभव है कि यदि अन्तर्जीवन का अध्ययन उचित रूप से करने का अभ्यास ढाला जाय, और उसके विश्लेषण की समुचित विधि का ज्ञान हो जाय तो यह जाना जा सकता है कि किस विशेष मानसिक तूफान के अवसर पर किस विशेष कोटि के स्तर की कौन विशेष प्रवृत्तियाँ ऊपर को उठ रही हैं। इस ज्ञान का फल यह देखा गया है कि वे व्यक्तिविनाशी अथवा समाजघाती तूफानी प्रवृत्तियाँ हमारे मन की संतुलित अवस्था में कोई विकार या विभीषिका उत्पन्न नहीं कर सकतीं। साहित्य में मनोविश्लेषण का मैं यही महत्व मानता हूँ। व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत मानव मन के भीतर के विभिन्न स्तरों से जो आत्मकामी अथवा असामाजिक प्रवृत्तियाँ समय-समय उठती रहती हैं, उनका विश्लेषण करके उनके मूलसूत्र से यदि रसग्राही जनता को परिचित कराया जाय तो बहुत सी मानसिक उलझनों और असंतुलित मनोविकारों से मुक्त होने में उन्हें सहायता मिल सकती है। कुछ लोग यह समझते हैं कि केवल वाह्य जीवन का विश्लेषण ही आवश्यक और उपयोगी है, अंतर्जीवन के विश्लेषण से विविध प्रकार के शोषणों से पीड़ित जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसे लोगों से मैं

अपने पिछले लेखों में बार-बार यह निवेदन कर चुका हूँ कि वाह्य जीवन का अंतर्जीवन पर जितना प्रभाव पड़ता है, अंतर्जीवन का वाह्य जीवन पर उससे कई गुना अधिक पड़ता है। आज संसार में जितने भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मतवाद एक दूसरे के विरोधी रूप में प्रचलित हैं उन सब की विशिष्टता के मूल में कुछ विशिष्ट वर्गों की विशिष्ट ही मानसिकता काम कर रही है। स्मरण रहे कि मैं यह कतई अस्वीकार नहीं करता कि वाह्य जीवन का कोई प्रभाव व्यक्तिगत तथा सामाजिक निर्माण अथवा सामूहिक संगठन में नहीं पड़ता। वाह्य जीवन का प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर एक सीमित रूप में। यह तार्किक भगड़ा इस क्षेत्र में भी किसी हद तक उत्पन्न हो सकता है कि पहले पेड़ की उत्पत्ति होती है या बीज की। क्योंकि वाह्य जीवन किसी न किसी हद तक अंतर्जीवन को प्रभावित करता है और अंतर्जीवन वाह्य जीवन की मूल प्रेरिका-शक्ति के रूप में काम करता है। पर यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो अंतर्जीवन का महत्व बहुत अधिक व्यापक और गहरा सिद्ध होगा। एक-बटा दस वाह्य जीवन जब नौ-बटा दस अंतर्जीवन से मिलता है तब संपूर्ण और समन्वित मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण होता है। पर चूँकि एक-बटा दस जीवन सब समय हमारे सचेत मन की जानकारी में प्रत्यक्ष रहता है, इसलिए सामूहिक मानव उसी को अधिक महत्व देने के लिए लालायित हो उठता है, जब कि नौ-बटा दस व्यक्तित्व के एकदम भीतर छिपा रहता है, इसलिए जन-समूह सदा उसकी उपेक्षा करना चाहता है, भले ही वह एक-बटा दस (अर्थात् वाह्य) जीवन का मूल परिचालक हो।

मैं यहाँ पर एक बात और बता देना आवश्यक समझता हूँ। मैं मन की एक स्वतंत्र सत्ता मानता हूँ जो कभी सृष्टि तत्वों के भीतर बीज रूप में सन्निहित रहती है और कभी उसके मूल आधार के रूप में। जीवन के विकास-क्रम में जो वाह्य तत्व अन्तस्तत्वों में बदल जाते हैं और जो अंतस्तत्व वाह्य तत्वों को प्रेरित करते हैं उन दोनों से मन की मूल सत्ता में कोई ह्रास या वृद्धि नहीं होती। जिसे मैंने अंतर्जीवन कहा है उसकी स्थिति मन की उस मूल सत्ता के ऊपर है। वर्तमान लेख में वर्णित मनोवैज्ञानिक विषय कहीं

आध्यात्मिकता की ओर न बढ़ जाय, इस आशंका से मैं इस चर्चा को यहीं पर रोके देता हूँ ।

जो भी हो, जैसा कि मैं पहले निर्देशित कर चुका हूँ, किसी भी युग का श्रेष्ठ साहित्यकार कभी अंतर्जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है कि केवल वाह्य जीवन को लेकर चलने से उस मानवीय विकास और प्रगति का कोई अर्थ नहीं रह जाता जो पशु जीवन और मानवीय जीवन के व्यवधान को स्वीकार नहीं करती । इसलिए उसकी साहित्य-सर्जना अंतर्जीवन की पृष्ठभूमि में ही प्रतिफलित होती है, और अंतर्जीवन के गहरे विश्लेषण द्वारा ही वह बाहरी जीवन की समस्याओं के समाधान की ओर संकेत कर पाता है ।

अंतर्जीवन और वाह्य जीवन के बीच में एक अदृश्य पुल है जो सभी व्यक्तियों को नहीं दिखायी देता । पर उच्चतम कोटि के लेखक और कवि की सूक्ष्म अंतर्भेदिनी दृष्टि से यह पुल छिपा नहीं रहता । और वह अपनी समस्त सर्जनात्मिका शक्ति को इस उद्देश्य से नियोजित करता है कि वाह्य जीवन की यथार्थता के प्रदर्शन और अंतर्जीवन के विश्लेषण द्वारा वह उस संयोजनात्मक पुल का परिचय, अपने दृष्टिकोण से, संसार को दे सके ।

जो द्वितीय या तृतीय श्रेणी के लेखक या कवि इस पुल के ओर या छोर के एकांगीय प्रदर्शन या विश्लेषण में अपनी सारी शक्ति को खर्च कर देते हैं उनकी प्रतिभा चाहे कैसी ही कलाबाजियाँ क्यों न दिखाये वह कभी साहित्य की कलात्मक सृष्टि के व्यापक रूप को नहीं अपना सकती और न उसके मूल उद्देश्य को ही पकड़ पाती है । प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में फ्रायडियन यौन-तत्वात्मक मनोविश्लेषण से प्रभावित कलाकारों ने केवल अंतर्जीवन के विश्लेषण को ही कलात्मक साहित्य का अर्थ और इति माना । विश्लेषण को उन्होंने केवल विश्लेषण के लिए अपनाया (वह विश्लेषण भी ऐसा जो फ्रायड के एकांगीय और संकुचित दृष्टिकोण तक सीमित था) । इनके इन एकांगीय प्रतिभा-प्रकाशन से वाह्य जीवन की यथार्थता और अंतर्जीवन के उद्घाटन के विरोधात्मक पहलू पर ही अधिक जोर पड़ा, उन दोनों का समन्वयात्मक और संश्लेषणात्मक सूत्र कहाँ पर है, इसे वे फ्रायडवादी कलाकार नहीं देख पाये

और यदि देख भी पाये हों तो उसे दिखाने की या तो उनमें समर्थता नहीं थी या प्रवृत्ति । ऐसे कलाकारों में 'युलीसीज' के सुप्रसिद्ध लेखक जेम्स ज्वाइस और 'लेडी चेरलीज लवर्स' के लेखक डी० एच० लारेन्स की गणना की जा सकती है । केवल वाह्य जीवन को लेकर चलनेवाले लेखकों में कुछ लोग 'ऐन्ड काइट प्लोज डाउन' के लेखक श्लोखोव की गिनती करते हैं । पर मैं ऐसा नहीं समझता । श्लोखोव ने वाह्य जीवन के यथार्थवादी प्रदर्शन के साथ ही अंतर्जीवन के विश्लेषण को भी यथेष्ट महत्व दिया है और सच्ची रूसी प्रतिभा के अनुसार दोनों दृष्टिकोणों के सुन्दर समन्वयात्मक संयोजन का प्रयास किया है । उक्त एकांगीय कोटि में रूसी क्रांति के बाद से लेकर लेनिन की मृत्यु के समय तक के छोटे-मोटे रूसी लेखक आते हैं । यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि लेनिन ने साहित्य में एकांगीय दृष्टिकोण को कभी स्वीकार नहीं किया था, और यह बात सर्वविदित है कि गोर्की ने अपने साहित्य में जीवन के दोनों (अंतर और वाह्य) रूपों को अपनाया, और अंतर्जीवन के विश्लेषण को वाह्य जीवन से अधिक ही महत्व दिया, कम नहीं । पर लेनिन के शासन काल के रूसी लेखक एक भारी गलतफहमी से परिचालित होकर कला में केवल वाह्य जीवन के विश्लेषण के पक्षपाती हो गये ।

हिन्दी के क्षेत्र में भी आज कुछ वर्ग ऐसे हैं जो कलात्मक साहित्य में अंतर्जीवन के विश्लेषण की कोई उपयोगिता नहीं मानते; उनके मत से वाह्य जीवन ही सब कुछ है और साहित्य में केवल उसी का समीक्षण और विश्लेषण अभीष्ट है । और कुछ ऐसे लेखक तथा आलोचक हैं जो केवल अंतर्जीवन के विश्लेषण को ही साहित्य-सर्जना का एकमात्र आधार और उद्देश्य मानते हैं । पर मेरे मत से दोनों के बीच के सामंजस्यात्मक सूत्र को खोज निकालना ही श्रेष्ठ कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए, और साथ ही केवल विश्लेषण पर ही जोर दिया जाना मैं घातक समझता हूँ जब तक कि उस विश्लेषण की परिणति संश्लेषण में न की जाय ।



युग-समस्याएँ और साहित्यकार

सांस्कृतिक पुनर्जागरण में बुद्धिजीवियों

आज सांस्कृतिक संकट अत्यंत विकट रूप में हम लोगों के आगे उपस्थित है, इसलिये सभी साहित्यिक और सांस्कृतिक कलाकारों के लिये इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है कि वे सम्मिलित रूप से संगठित होकर इस अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करें कि इस संकट के निवारण के लिये उपयुक्त उपाय क्या हो सकते हैं।

इसके लिये हमें सबसे पहले संकट के मूल कारण की खोज करनी होगी। आज के युग में विश्वव्यापी आर्थिक विप्रमता और राजनीतिक प्रभुत्ववाद के फलस्वरूप यथार्थ जीवन की प्रतिदिन की समस्याएँ ऐसी जटिल हो गयी हैं और जटिलतर होती चली जा रही हैं—कि जन-साधारण को नोन-तेल-लकड़ी की चिंता से ही फुर्सत नहीं मिलती; जो प्रत्यक्ष पार्थिव और भौतिक संकट जनता पर आ दूटा है उसी की समस्याओं को सुलझाने में उसकी सारी शक्तियाँ खर्च होती चली जा रही हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक संकट की ओर ध्यान देने का अवकाश आज इने-गिने चिंतकों को छोड़कर और किसी को नहीं है। नंगी-भूखी जनता से हम कैसे यह आशा करें कि वह साहित्यिक सृजन की ओर ध्यान दे ? भूख-प्यास संबंधी जो प्रतिदिन की समस्याएँ उसके सिर पर हथौड़े चला रही हैं उनकी अवज्ञा करके वह कैसे साहित्य और कला को अपनावे और उसके विकास में सहायक हो ? उसे यह बोध कैसे हो कि साहित्यकार उसे यथार्थ जीवन की उलझनों से मुक्त करने में सहायक सिद्ध हो सकता है ?

इसका कारण यह है कि साहित्य और साहित्यकार के संबंध में हमारे यहाँ युगों से एक भ्रामक धारणा बनी हुई है। हमारे यहाँ की क्या शिक्षित और क्या अर्द्धशिक्षित जनता सर्जनात्मक साहित्य को या तो विशुद्ध मनोरंजन और मानसिक विलास की सामग्री मानती

है या ऐसी वस्तु जो हमें आनन्द की सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान कर सके। उस अनुभूति को लोग साधारणतः देश काल के अतीत मानते हैं। युग की, राष्ट्र की और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की (अर्थात् देश की और काल की) समस्याओं से साहित्य-कलाकार का संबंध किसी भी रूप में हो सकता है, यह मानने को हमारी रूढ़िवादी जनता तैयार नहीं है। वह उसकी ऐकान्तिक साधना पर विश्वास करती है और युग-जीवन के प्रति उसका कोई भी उत्तरदायित्व हो सकता है, ऐसा वह नहीं समझती। यह धारणा यदि केवल जन-साधारण तक ही सीमित होती तो भी गनीमत मानी जाती, पर हमारे बहुत से प्रतिष्ठित आलोचक और स्वयं साहित्य-कलाकारों के मन में भी इस विषय में अधिक विभिन्नता नहीं पायी जाती। हमारे अनेक मान्य आलोचकों की सम्मति में साहित्य-कलाकार को मानव-हृदय के स्थायी भावों और जीवन के तथाकथित शाश्वत सत्यों को ही अपनी कृतियों में कलात्मक रूप से प्रस्तुत करना चाहिये और सामयिक समस्याओं की अवज्ञा करके, रसात्मक वाक्यों द्वारा मानव-मन में केवल तथाकथित 'दिव्य अनुभूति' जगाने और 'दिव्य चेतना' उसकाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि इस तरह की धारणा में, जो हमारे सांस्कृतिक समाज में घर किये हुए है, सचाई का अंश कहां तक है? क्या वास्तव में साहित्यकार का केवल इतना ही कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन के यथार्थ जीवन की कठोरता से मुंह मोड़कर, संघर्ष से कतराकर केवल अपनी अन्तश्चेतना के 'दिव्य आनन्द लोक' में निमग्न रहे और उससे व्यक्तिगत 'आनन्दानुभूति' का आभास अपनी रचनाओं में देता चला जाय? व्यक्तिगत रूप से मेरा यह विश्वास है कि साहित्य-कलाकार के संबंध में इस प्रकार की धारणा एकदम संकीर्ण, संकुचित, एकांगीय और घोर भ्रामक है। यह सामंती युग के अलस विलासिता-पूर्ण मस्तिष्क की उपज है, जिसे चरम सत्य मान कर आज भी हमारे कई साहित्यालोचक और साहित्यकार बुरी तरह भटक रहे हैं। साधारण जनता के और उनके बीच में जो गहरी खाई आज हम देखते हैं उसका प्रमुख कारण यही विश्वास है।

हमारे यहाँ प्राचीन काल में साहित्य-कलाकार के संबंध में इस तरह की कोई धारणा नहीं पायी जाती थी। वैदिक युग से लेकर महाभारत काल तक क्रांतद्रष्टा ऋषि और कवि दो पर्यायवाची शब्द माने जाते थे। पर ऋषि शब्द के ठीक अर्थ के संबंध में भी जनता में गलत धारणा फैली हुई पायी जाती है। लोगों को साधारणतः ऋषि शब्द से एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो ब्रह्मविद्या के सूक्ष्म और रहस्यात्मक तत्त्वों को समझता और समझाता हो। पर ऋग्वेद में ऐसे ऐसे ऋषियों की रचनाएँ संकलित हैं जो युद्ध और राजनीति से लेकर अन्नोत्पादन तक सभी विषयों पर अपने अनुभवों और उपदेशों से जनता को परिचित करा गये हैं।

पर बात चल रही थी क्रांतद्रष्टा ऋषियों या कवियों के संबंध में। वैदिक कवियों ने प्रकृति से एकात्म होकर उसके गीत अवश्य गाये हैं, पर साथ ही कठोर यथार्थ जीवन की समस्याओं की तनिक भी उपेक्षा उन्होंने नहीं की है। क्रांतद्रष्टा ऋषियों ने सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों को अपनी रचनाओं के विषय-रूप में ग्रहण करके उन युग-समस्याओं के समाधान द्वारा जनता को सामाजिक और सामूहिक उन्नति के पथ की ओर निरंतर अग्रसर करते रहने के प्रयास किये हैं। आर्या और अनार्यों के द्वन्द्वात्मक संघर्ष से भी लाभ उठाकर उन्होंने जीवन की प्रगति के कई नये तत्त्व खोज निकाले थे। यही परंपरा रामायण काल तक चली गयी और महाभारत में पराकाष्ठा को पहुँच गयी।

महाभारत अपने युग की समस्याओं का ही काव्य है। एक गंभीर यथार्थवादी लेखक की तरह महाभारतकार ने अपने युग की प्रायः सभी महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को उठाकर सच्चे अर्थों में एक महान काव्य की रचना की है। महाभारतकालीन युद्ध को मैं सबसे पहला विश्व-महायुद्ध मानता हूँ। उस युद्ध में केवल भारतीय महादेश के राजाओं ने ही भाग नहीं लिया था, वरन् चीन, ईरान, यूनान, अफगानिस्तान, कंबोज—और संभवतः रोम के भी सैनिकों ने उसमें भाग लिया था। रोमनों को महाभारत में रमण कहा गया है। उस महाकाव्य के प्रारंभिक पवों में युद्ध के उपकरण जुटते हैं, फिर युद्ध की अनिवार्यता से चिंतित होकर उस युग के सर्वमान्य नेता कृष्ण उसे टालने के उद्योग में कोई बात उठा

नहीं रखते; उसके बाद अनिवार्य परिस्थिति आ ही जाती है। दोनों पक्ष महायुद्ध की तैयारियों में जुट जाते हैं। उस विश्व-विघातक महायुद्ध के बाद युद्ध-जनित दयनीय परिस्थितियाँ सामने आती हैं। अंत में स्थायी शांति का महा-उद्योग चलता है।

यदि आज कोई महाकवि द्वितीय महायुद्ध पर कोई महाकाव्य लिखे, उसके सूत्रपात से लेकर अंतर-राष्ट्रीय दाव-पेंचों के साथ ही युद्ध के विस्तृत विवरणों के साथ उसकी लोमहर्षक भयंकरता पर प्रकाश डाले और अंत में संधि के बाद अंतर-राष्ट्रीय जनता की उस घोर दयनीयता का चित्रण करे जो महायुद्ध-जनित परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसे सहन करनी पड़ी है, और अंत में स्थायी शांति पर विचार करके अपना अंतिम पर्व समाप्त करे, तो वह बहुत कुछ महाभारत के ही ढंग की चीज होगी।

महाभारत में उठायी गयी समस्याओं के समाधान से हम सहमत हों या न हों, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह सामंतवादी विलासिता के उपकरणों से रचित नहीं बल्कि युग की ज्वलंत समस्याओं के प्रकाश से प्रज्वलित महाकाव्य है। और साथ ही इस संबंध में भी शायद ही किसी का मतभेद हो कि यह सब कुछ होने पर भी वह एक महान साहित्यिक कृति है, जो आज के युग में भी हमें उसी तरह रोमांचित करती है जिस तरह अपने युग के पाठकों को करती रही होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युग की समस्याओं को लेकर भी श्रेष्ठतम साहित्यिक कलाकृतियों की रचना हो सकती है। केवल कायर कलाकार ही युग के कठोर यथार्थ-जीवन के प्रश्नों से कतराते हैं। उन्नीसवीं शती में पाश्चात्य कलाकारों ने, विशेष कर रूस और फ्रांस के श्रेष्ठ उपन्यासकारों ने, युग की समस्याओं को खुले तौर से अपनाना आरंभ कर दिया था। इससे न उनकी कला में कोई त्रुटि आयी न आपेक्षिक स्थायित्व में। हमारे यहां रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में युग-समस्याओं को उठाया था। अक्सर लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि एक युग की समस्याओं से संबंधित रचना दूसरे युग को कैसे प्रभावित कर सकती है? और जो रचना अपने से

बाद के युगों पर अपना प्रभाव न जमा सके उसका महत्व ही क्या हो सकता है ? ऐसी कला-कृति अमरत्व और स्थायित्व कैसे प्राप्त कर सकती है ?

महाभारत के दृष्टांत से यह हम देख चुके हैं कि एक युग की समस्याओं से संबंधित रचना आनेवाले कई युगों तक भी अपना प्रभाव कायम रख सकती है, वशर्ते उसका लेखक विशेष प्रतिभाशाली हो और अपनी रचना में उठायी गयी युग की समस्याओं को जीवन की मूलगत समस्याओं से संबद्ध कर सकने की कला में निपुण हो। महाभारतकार ने युग की समस्याएँ अवश्य उठायीं और उनके समाधान की ओर भी पूरा प्रयास किया, पर युग की वे समस्याएँ ही उसकी रचना की अथ और इति बन कर नहीं रह गयीं; उन्हें उसने सामूहिक मानव-प्रकृति के हास और विकास के चक्र के साथ इस तरह संबद्ध किया है कि उद्देश्य और विधेय एक-दूसरे के अविच्छिन्न अंग बन गये हैं। यही महाकवि की कला है। यही वह जादू है जो आज के युग में भी हमारे सिरों पर चढ़कर बोल रहा है। रही अमर और स्थायी साहित्य की बात। मैं अमरता और स्थायित्व को सापेक्ष शब्द मानता हूँ। इस निरंतर गतिशील संसार में कोई भी कला-कृति चिरस्थायी नहीं रह सकती। प्रत्येक रचना, चाहे वह कितनी ही महान क्यों न हो, अपने साथ अपनी सीमित आयु की अपेक्षाकृत दीर्घ या लघु अवधि का पट्टा लिये रहती है। जो रचना जितनी ही महान होगी उसकी आयु उतनी ही लंबी होगी, पर अंत में एक न एक दिन विस्मृति की महाकब्र में उसका विलय निश्चित है। महाभारत संसार की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में है इसलिये वह आज कई हजार वर्षों बाद भी जीवित है ; पर जो कलाकृतियाँ अपने युग से सौ दो सौ साल बाद तक भी जीवित रहें उनका भी काफी महत्व मैं मानता हूँ—इस अर्थ में कि उतने असें तक वह निरंतर प्रगतिशील सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ दौड़ लगाती रही और अंत में अपने स्थूल रूप को मिटाकर अपने सूक्ष्म तत्त्व को उस समय तक की प्रगति के तत्त्वों के साथ एक रूप में मिला कर विलीन हुई।

जो भी हो, यह हम देख चुके कि युग की समस्याओं को साहित्य में उठाने से कोई कलाकृति हीन नहीं हो जाती, बल्कि उसका महत्व और बढ़

सकता है—ब्रशर्ते कलाकार प्रतिभाशाली हो और युग की समस्याओं को जीवन की मूलगत समस्याओं से संबद्ध करने की कला से परिचित हो। साथ ही, इस सिलसिले में एक और बात की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति में युग की केवल उन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी जाती है जो सारे युग की समग्र मानवता की सामूहिक गति से संबंध रखती हों, जैसे युद्ध और स्थायी शांति, जन-जीवन में पायी जानेवाली व्यापक आर्थिक विपमता बनाम स्थायी सामूहिक समता आदि-आदि। वैसे राशनिंग व्यवस्था भी आज के युग की एक समस्या है। कोई कलाकार चाहे तो इस समस्या को भी उठा सकता है और अपनी कहानी में अच्छी तरह से उसका निर्वाह भी कर सकता है। पर किसी बड़ी कलाकृति में उसके लिये इस कारण स्थान नहीं हो सकता कि वह आज के जीवन की कोई प्रधान समस्या नहीं, बल्कि किसी एक मूल समस्या की उपशाखा है। वह मूल समस्या है युग की आर्थिक विपमता और अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्रों में राजनीतिक प्रभुत्ववादिता के कारण अन्न का असम-उत्पादन और असम-वितरण। कोई श्रेष्ठ कलाकार जब इस समस्या को अपनी रचना में उठायेगा तो वह जीव की उस विपमता का यथार्थ चित्रण करने के साथ ही उसके मूल में स्थित मानव की रूढ़िवादी वैयक्तिक स्वार्थपूर्ण और संचयपरायण प्रवृत्तियों पर भी आघात करेगा; पर उस सारी योजना के मूल में उसका उद्देश्य निश्चय ही यह रहेगा कि सामूहिक मानव-मन की स्थूल, संकीर्ण और विकृत प्रवृत्तियों के परिष्करण द्वारा उन्हें सूक्ष्म, उदार, स्वस्थ और सुन्दर बनाने के सुभाव कलात्मक उपायों से उपस्थित करे और सामूहिक जीवन को व्यक्तिगत अथवा गुटगत स्वार्थ-जनित वैषम्य के नरक से मुक्त करके यथार्थ-जीवन के उन नारकीय तत्त्वों के ही समुचित उदात्तीकरण द्वारा पृथ्वी की प्रत्यक्ष मिट्टी के ऊपर ही सच्चे स्वर्ग की स्थापना का रास्ता दिखावे। इस प्रकार वह युग की समस्याओं को उठाता हुआ भी उन्हें जीवन की मूलगत समस्याओं से संबद्ध कर सकेगा। और यही संबद्धता उसकी रचना को आपेक्षिक स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होगी।

आज साहित्यकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं ने आज जीवन को चारों ओर से इस कदर छा लिया है कि चाहने पर भी साहित्यकार उनसे घबराकर भाग नहीं सकता। भागने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा। एकांत में वंशी बजाकर दिव्य चेतना की अनुभूति में मग्न होकर, दैवी जीवन की महत्ता का राग अलापना आज प्रलाप के समान सिद्ध होगा। यह ठीक है कि मानव के विकास का अंतिम लक्ष्य सामूहिक रूप से दिव्य चेतना की अनुभूति ही है। पर जीवन की कठोर यथार्थता और संघर्षशीलता को भुलाकर आँखों को मूँद लेने से ही उस महाचेतना की सच्ची अनुभूति उपलब्ध नहीं हो सकती। आँखों को मूँद लीजिये और ध्यानमग्न हो जाइये तो सर्वत्र दिव्य ही दिव्य चेतना है, पर आँखें खोलते ही आप अपने को फिर उसी कठोर मिट्टी के बीच में पायेंगे जिस पर खड़े रहने के लिये भी आज की विपन्न जीवन-व्यवस्था में आपको परमिट लेने की आवश्यकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, दिव्य चेतना की उपलब्धि मानव-जीवन के विकास का अंतिम लक्ष्य है। पर उस अंतिम लक्ष्य को आप सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़कर ही प्राप्त कर सकते हैं, एक क्षण में आँखें मूँद कर नहीं। और एक एक सीढ़ी क्षुरस्य धारा की तरह कठिन और दुर्गम है। इसलिये आज सच्चे साहित्य-साधकों का कर्त्तव्य है कि वे जीवन की कठोर यथार्थता को स्वीकार करके सामूहिक जीवन में सम-व्यवस्था लाने और सम-सौन्दर्य बिखेरने के उद्देश्य से एक-एक रोड़े को हटाने, एक-एक पत्थर को तोड़ने और जीवन की प्रगति को रोकनेवाली एक-एक दीवार को ढाने के संगठित प्रयत्नों में सम्मिलित हों। साहित्यकार अपने ही ढंग से यह कार्य कर सकता है। यथार्थ जीवन के सहज, कलात्मक चित्रण द्वारा उस जीवन को ठीक रास्तों से मोड़ने के लिये दिशा-निर्देशक का काम कर सकता है। मानवता की सांस्कृतिक चेतना निरंतर स्थूल के निराकरण और सूक्ष्म के परिस्फुटन की ओर बढ़ते रहने का प्रयास करती आयी है। इसलिये सूक्ष्म का परिस्फुटन जितना महत्वपूर्ण है, स्थूल का निराकरण उससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। क्योंकि उसके बिना सूक्ष्म का परिस्फुटन संभव ही नहीं है। आज के जीवन में विकृत और स्थूल तत्त्व इतने

अधिक परिमाण में संचित हो गये हैं कि उनके निराकरण के लिये अत्यन्त कठिन सम्मिलित प्रयास साहित्यकारों को करना है। उसके बाद ही वे सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्त्व जनता को दे सकेंगे, उसके पहले नहीं। इसलिये साहित्य-साधक को आज यह कठोर कर्त्तव्य स्वीकार करना ही होगा। महत् सुन्दर जीवन के निर्माण के उद्देश्य से एक पत्थर तोड़ना भी बहुत बड़ी सांस्कृतिक साधना है। यह साधना उस प्रेयमूलक अनुभूति में कई गुना अधिक श्रेयमूलक है जो जीवन से अलग हट कर एकांत में वंशी बजा कर दिव्य चेतना में विलीन होने के कृत्रिम प्रयास में प्राप्त होती है।

एक जमाना था जब साहित्य-कलाकार मानव-जीवन का विधान-निर्माता और मानव-समाज का नायक और उन्नायक था। आज जन-नेतृत्व की बागडोर राजनीतिक और आर्थिक नेताओं के हाथों में आ गयी है। इसका एक कारण निश्चय ही यह है कि साहित्यकार ने जन-जीवन से संपर्क त्याग दिया। जीवन की मूल मिट्टी और खाद के स्पर्श और संसर्ग से भी वह बच-बच कर चलने लगा और उस मिट्टी के ऊपर एक सीमेंट का चबूतरा बनाकर उसपर खड़े होकर वह एक कृत्रिम सौंदर्य-संसार की उपासना और कल्पित सौंदर्य देवताओं की आराधना करने लगा। उसने यह नहीं सोचा कि यथार्थ सौंदर्य की सृष्टि मूल मिट्टी की ऊपरी सतह को साफ करके, उसे गहरा खोदकर, और जीवन के नरक की सड़ी और गन्दी खाद से उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाकर ही हो सकती है। फल यह हुआ कि जिस कृत्रिम और जीवन-संपर्क से रहित सौंदर्य-साधना में वह जुटा उससे जनता ने मुंह मोड़ लिया। असाहित्यिकों ने इस तथ्य से लाभ उठाकर जनता पर अपने प्रभुत्व का जाल बिछा दिया।

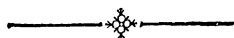
पर आज जनता के आगे उन असाहित्यिक और प्रभुत्ववादी नेताओं की पोल भी खुल गयी है। जन-साधारण के आर्थिक शोषण और अणु-अस्त्रों के निर्माण द्वारा सामूहिक जीवन के ध्वंसीकरण की जो योजनाएं आज अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्रों के नियन्ताओं द्वारा चल रही हैं उनका वास्तविक स्वरूप अब जनता के आगे प्रकट हो चुका है। इसलिये वह आज के संकट-ग्रस्त जीवन की घोर विषम परिस्थितियों में फिर सांस्कृतिक नेताओं की ओर पथ-प्रदर्शन की लालसा से टकटकी लगाकर देखने लगी है। यद्यपि अभी तक उनके

प्रति भी अविश्वास की भावना उसके मन से पूरे तौर से नहीं हटी है । क्या साहित्य-साधक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने को उस योग्य बनाकर सहस्रों बंधनों से जकड़ी हुई जनता को सच्ची मुक्ति का पथ प्रदर्शित कर सके ? क्या वह आज की दानवीय शक्तियों से पराजित होकर अपने महत् ध्येय से च्युत होकर बैठ जाना पसंद करेगा ? अपनी परिस्थितियों से निराश होकर राजनीतिक और आर्थिक महाप्रभुओं का अनुशासन स्वीकार करके उसे मौन साध लेना होगा ? नहीं, इस आत्मघाती मोहनद्रा से उसे जगना ही होगा । फिर से अपने क्रांतद्रष्टा रूप को जागरित करके युग की अंध प्रवृत्तियों को नया मोड़ देने के संगठित प्रयत्नों में उसे जुटना ही होगा और उनके द्वारा राजनीतिक और आर्थिक पाटो के बीच में पिसे हुए आज के जीवन को मुक्त करना होगा । कठोर यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाकर जन-जीवन के मूल में प्रवेश करना होगा और उसके भीतर प्रगतिशील सांस्कृतिक तत्त्वों के बीज बोकर सच्चे अर्थों में सुंदर और महत् सामूहिक जीवन के निर्माण में सह-योग देना होगा ।

व्यक्तिगत जीवन के घेरे में बद्ध प्रतिभा का आज कोई मूल्य नहीं है । जो प्रतिभा जन-जीवन में सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना जगाकर युग के वाह्य और अंतर-जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध न हो सके वह निष्फला और बंध्या है । साहित्य और संस्कृति की प्रगति जीवन के विकासोन्मुख तत्त्वों को निरंतर आगे बढ़ाने की ओर होनी चाहिये । साहित्य का अर्थ ही वह कला है जो जीवन के सहित अर्थात् साथ हो । इसलिये आज के अभाव और साहित्य के युग में यदि सच्चे साहित्य की प्रतिष्ठापना करनी है तो उन सब उपकरणों को बटोरना होगा जो यथार्थ जीवन की प्रगति के साथ हैं । जनता की भूख-प्यास और आर्थिक संकट की समस्याओं को अपनाकर उन्हें प्रतिभा के रासायनिक स्पर्श से साहित्यिक रस में परिणत करना होगा और फिर उस साहित्यिक रस का उपयोग सामूहिक मानव-हित के उद्देश्य से करना होगा ।

यह आवश्यक नहीं है कि हम लोग पाश्चात्य देशों के प्रगतिशील साहित्यकारों के कदमों का अनुकरण करते चले जायं । अपने देश और अपने

काल की परिस्थितियों पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए हमें स्वयं कला की नयी-नयी शैलियों का उद्भावन करना होगा और उन शैलियों द्वारा आज के बद्ध जीवन और बंदी जगत् की प्रगति और मुक्ति के संबंध में नये-नये कलात्मक सुभाव उपस्थित करने होंगे । बिना ऐसा किये हम मानव-जीवन के निरंतर विकासोन्मुख संस्कृति के अंतिम ध्येय की ओर अग्रसर न हो सकेंगे ।



समस्त कलाओं का मूल उत्स

साहित्य-कला के स्वरूप और आदर्श के संबंध में पिछले युगों की धारणा और आज की धारणा में, बड़ा अन्तर पड़ गया है। पिछले युगों में कला एक लोकोत्तर अनुभूति का विषय समझी जाती थी और संसार के प्रति-दिन के जीवन-चक्र से उसका किसी प्रकार का संबंध नहीं माना जाता था। हमारे अलंकार-शास्त्रियों ने जिस रस को साहित्य का मूल प्राण माना था उसके संबंध में उनकी धारणा थी कि “वह स्वतः स्फूर्त और स्वतः प्रकाशित होनेवाले अखण्ड चिन्मय आनन्द से पूर्ण होता है, वह किसी बाहरी वस्तु के स्पर्श से शून्य और ब्रह्मानन्द की ही सम-अनुभूतिवाला होता है; वह लोकोत्तर चमत्कार से भरा होता है।” (विश्वनाथ-‘साहित्यदर्पण’)। पर आज का कलाकार यह मानने को तैयार नहीं है कि कोई भी कला ‘बाहरी’ (अर्थात् सांसारिक) वस्तुओं के संसर्ग से एकदम रहित और लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण होती है। उसका विश्वास है कि संसार के प्रतिदिन के संघर्ष-विघर्षमय और पापपुण्य के सम्मिलित पीड़न से लुब्ध, वास्तविक जीवन के भीतर से कला का रस उथलता है और कोई भी रसानुभूति अलौकिक नहीं हो सकती।

इसमें संदेह के लिये कोई गुंजाइश नहीं है कि कला का मूल उत्स मनुष्य की सामूहिक अज्ञात चेतना है, जिसके भीतर प्राचीनतम काल से, असंख्य युगों से अनंत प्रकार की विचित्र वासनाएं और कामनाएं संचित होती चली आयी हैं। इस अज्ञात चेतना में—अवचेतन मन में—पुञ्जीभूत वे अनंत आकांक्षाएं, वे पशु प्रवृत्तियां, प्रतिपल अज्ञातरूप से मानव के सचेत मन पर आघात करती रहती हैं। कलाकार के सचेत मन के द्वारों को वे कुछ अधिक तीव्रता से खटखटाती हैं, जिससे उसका चित्त कुछ विशेष रूप से आन्दोलित होता है और उस आन्दोलन के फलस्वरूप वह कविता, कहानियाँ आदि की रचना के लिये व्याकुल हो उठता है। इस अज्ञात-विवशता-जनित व्याकुलता को ही पिछले युग के, समस्त देशों के, कलाकारों और आलोचकों

ने कला की मूल प्रेरणा माना है; यद्यपि इसका मूल कारण वे नहीं समझ पाये थे। हमारे यहाँ के अलंकार-शास्त्रियों की भाषा में आत्मा के सब आवरण जब हट जाते हैं और आत्माभिव्यक्ति के लिये कहीं कोई रुकावट नहीं रह जाती, तभी रस की सृष्टि संभव होती है। (भगवद्गीता-अष्टाध्यायि-१०.२० स्थायीभावो रसः—जगन्नाथ पंडित ।) 'रस-गंगाधर' के लेखक जगन्नाथ पंडित का यह भी कहना है कि 'रस' जिस 'रति' या अनुराग की उपज है उसका पूर्व युगों से संचित वासनाओं (प्राग्निविष्ट वासना रूपः) से घनिष्ठ संबंध है, और उन पुञ्जित वासनाओं के असंख्य कोशों में से कुछ कोश जब खुलने लगते हैं तब आनंद के स्फुरण के साथ ही साथ रस का भी उद्वेलन होता है—और यही काव्य-कला या साहित्य का स्थायी रस है।

आश्चर्य की बात है कि जगन्नाथ पंडित ने कला की सर्जना के संबंध में मानव मन के अतल में निहित युगों से संचित वासनाओं के कोशों के खुलने की जो बात कही है, आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक भी वही बात—शब्दों के कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ—कहते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि कला कलाकार की अज्ञात चेतना के अतल में अपनी जड़ें जमाये रहती है; और उस अतल में युगों से—उस समय से जबकि मनुष्य पशु था—जो वासनाएं और काम, क्रोध, मद, मोह की प्रवृत्तियाँ और विचित्र प्रकार की असंख्य विकृतियाँ तथा सुकृतियाँ जमकर एक 'सामूहिक अवचेतना' का सम्मिलित रूप धारण किये रहती हैं, उन्हीं के विस्फोटों से कला की सृष्टि होती है।

पर इन दोनों विचार-धाराओं में अंतर यह है कि एक मनुष्य के अंतर्मन में निहित अज्ञात-वासनाओं के इन विस्फोटों का कारण स्वतःस्फूर्त (और लोकोत्तर) आनंद को मानती है, और दूसरी धारा उन्हें सभ्यता के बंधन से ग्रस्त मनुष्य द्वारा दबायी गयी पशु-प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया का परिणाम मानती है। अब देखना यह है कि इन मूलतः भिन्न कारणों को जोड़नेवाली कोई कड़ी कहीं है या नहीं।

पशु के भीतर जब भूख-प्यास अथवा केलि-क्रीड़ा-संबंधी कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति जागरित होती है तो वह सभ्य जगत् के किसी भी नियम के बंधन से

प्रस्त न होने के कारण, अवसर पाते ही खुलेश्राम उसकी पूर्ति करके जो सुख पाता है वही उसका आनन्द है। पर सभ्य मनुष्य अपनी पशु-प्रवृत्ति की तुष्टि के इस स्थूल रूप को निन्द्य मानता है और उसे सूक्ष्म मानसिक रूप देकर उसका ढंग और ढाँचा ही बदल देना चाहता है। फल यह होता है कि वह मूल 'पशु-प्रवृत्ति' बीज रूप में उसकी अज्ञात चेतना में जाकर दब जाती है और केवल उसकी लायात्मक अनुभूति उसके सचेत मन में रह जाती है। धीरे-धीरे वह उस लायात्मक अनुभूति को भी अवचेतन मन में दबा देता है और उसके बदले एक सूक्ष्म और तथाकथित आध्यात्मिक अनुभूति उसके सचेत मन पर संचरण करने लगती है। ये सूक्ष्म, लायात्मक, आध्यात्मिक अथवा रहस्यवादी अनुभूतियाँ ही काव्य तथा दूसरे कला-संबंधी क्षेत्रों में अवतरित होती रहती हैं। पर हम यदि इन्हें स्वतःस्फूर्त, किसी प्राकृतिक वस्तु या प्रवृत्ति के स्पर्श-संग से रहित, ब्रह्मानन्द के ही मूल उत्स से उत्पन्न हुआ मानें तो यह बात आधुनिक मनोविज्ञान-संबंधी विश्लेषण की कसौटी से आधार-रहित सिद्ध होगी। कारण यह है कि जिन सूक्ष्म काव्यानुभूतियों को आज तक के अधिकांश कलाकारगण अपनी रचनाओं में उतारते आये हैं उनके विस्फुरण के मूल कारण वे ही प्रवृत्तियाँ होती हैं जो एक साधारण पशु में वर्तमान रहती हैं, पर जो सुसंस्कृत मनुष्य के अवचेतन मन में अज्ञात रूप से दबी पड़ी होती हैं। अवचेतन मन से उठ कर और किसी रहस्यमयी रासायनिक क्रिया से छुनकर जब वे प्रवृत्तियाँ कलाकार के सचेत मन पर आंदोलित होने लगती हैं, तो उन्हें कविता तथा कहानियों के रूप में व्यक्त करके उसे वही सुख होता है जो एक पशु को अपनी भूख-प्यास और यौन-मिलन की प्रवृत्तियों के चरितार्थ होने पर—क्योंकि मूल बीज-रूप में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के रूप समान हैं। पर चूंकि भिड़ले युगों के कवियों और कलाकारों को इस रहस्य का पता नहीं था इसलिये वे कलामात्र की उपज विशुद्ध और अलौकिक आनन्द (या ब्रह्मानन्द) से बताया करते थे। केवल हमारे ही यहाँ के कलाकार अथवा रस-शास्त्रियों की नहीं, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी तक के अधिकांश यूरोपियन कलाकारों की भी यही धारणा रही है। शोपेन-होअर प्रत्येक पार्थिव वस्तु में अपार्थिवता की खोज और उसकी अभिव्यक्ति

को ही कलाकार का कर्तव्य मानता था। शैली का कहना था कि कला अनंत के विशुद्ध प्रकाश के ऊपर छाया हुई रंगिनी है। कीट्स किसी अज्ञात अनुभूति की रहस्यराधना को ही कला मानता था। नीत्शे का कहना था कि कलात्मक सर्जना के लिये आनंद की पुलकानुभूति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। विख्यात फ्रेड्रिख उपन्यासकार फ्लोबेयर ने अपना यह मत प्रकट किया था कि कलाकार को अपनी रचना में वही रूप धारण करना चाहिये जो ईश्वर सृष्टि की रचना में करता है, उसे कला के साथ अपनी आत्मा को विलीन कर देना चाहिये और जीवन को अपनी कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के एक साधन के अतिरिक्त कुछ भी अधिक नहीं समझना चाहिये। टामसन का विश्वास था कि अनंत के प्रांगण में सब समय आनन्द की तुरही बजती रहती है जिसकी आवाज हमारे कानों तक पहुँचती रहती है, और उस आवाज को गुँजाना ही कला है।

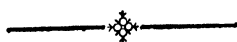
इस प्रकार के असंख्य मत उद्धृत किये जा सकते हैं। इस बात का पता इन सब लेखकों को नहीं था कि हमारे ही अवचेतन मन में युगों से पुंजीभूत पशु-संस्कारों से उस रहस्यमयी तुरही के बजने का शब्द सुनायी देता है। जिस अनुभूति-शक्ति को वे लोग 'अधि-चेतना' (सुपर-कांशस) या 'ईश्वरी-चेतना' ('डिवाइन-कांशस') समझे बैठे थे, वह वास्तव में निम्नतम स्तर की बंधन-ग्रस्त चेतना (अवचेतना या अज्ञात चेतना—'सब-कांशस' या 'अनकांशस') है, इस बात की खबर उन्हें नहीं थी।

हमारा तात्पर्य यह कहने का कदापि नहीं है कि अवचेतन मन से निकले हुए कलात्मक उद्गारों में रहस्यमयता नहीं होती। असल में मनुष्य का अवचेतन मन अनंत रहस्यों का भंडार है। सचेत मन की तुलना किसी हद तक दिन के प्रकाश से की जा सकती है और निविड़ रात्रि को अवचेतन मन का प्रतीक माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में कहा है—'जिस प्रकार दिन के अंत में, रात्रि के निलय में विश्व अपने अनन्त ग्रह-तारकों के साथ प्रकट होता है, उसी प्रकार मेरे हास-परिहास युक्त हृदय में उसे अनंत जगत् का विस्तार दिखाई देता है।' वास्तव में विश्व-रहस्य का अनंत विस्तार निविड़ रात्रि के रहस्य-लोक में ही दृष्ट हो सकता है। उसी प्रकार

मनुष्य के अवचेतन मन में आदिकाल से विश्वछवियों की जो झलकें संचित होती आयी हैं और असंख्य पशु-प्रवृत्तियों का जो जमाव होता गया है वह निश्चय ही अपार रहस्य से पूर्ण है, और कलाकार को अपनी कला के लिये कभी समाप्त न होनेवाली सामग्री वहीं से प्राप्त होती है। पर रहस्यमयता अलग चीज है और ईश्वरीय आनंद (अथवा वेदना) की रहस्यात्मक अनुभूति अलग। इस युग का कलाकार—अथवा कला का आलोचक किसी कलामयी कृति को दैवी प्रेरणा अथवा 'अधि-चेतना' द्वारा अनुभूत किसी अलौकिक भाव का प्रतिफल मानने को तैयार नहीं है।

जब यह मान लिया गया कि कुछ समय पहले तक की अधिकांश कलामयी कृतियाँ अवचेतन मन से उद्भूत अज्ञात वासनाओं के सुसंस्कृत और कलात्मक उद्गार मात्र हैं, और इस समय की भी बहुत-सी रचनाओं का यही हाल है, तो स्वभावतः प्रश्न यही उठता है कि श्रेष्ठ कलाकार के लिये अवचेतन मन का दास बनकर रह जाने में ही बड़प्पन है या उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने की चेष्टा करना श्रेयस्कर है ?

वास्तव में अवचेतन मन से अज्ञात रूप से उत्थित वासनात्मक उद्गारों को (चाहे उन्हें कैसा ही सुसंस्कृत रूप क्यों न दिया गया हो) प्रकट करके रह जाना कलाकार की निपट शिशुता का द्योतक है। शिशु की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जो आकांक्षा उसके सचेत मन पर उसे ताड़ित करती है उसके पूर्णतः वशीभूत होकर उसे तत्काल हँसकर या रोकर व्यक्त कर देना। केवल वही रचना विवेकशील कलाकार की प्रौढ़ कृति समझी जा सकती है जिसमें अवचेतन मन की कोई भी प्रवृत्ति अविश्लेषित अवस्था में न रहने पायी हो, और अज्ञात रूप से सचेत मन पर आक्रमण करने में समर्थ न हुई हो। इस उपाय से कलाकार अवचेतन मन के संस्कारों से कला की पूरी सामग्री भी जुटाने में समर्थ होगा, और साथ ही पाठकों को उन संस्कारों से ऊपर उठने में भी बड़ी भारी सहायता पहुँचा पावेगा। कला की महान् सामाजिक उपयोगिता का एकमात्र वास्तविक मार्ग यही है।



कला में सौंदर्य का आदर्श

सौन्दर्य का कोई निश्चित आदर्श नहीं। मनुष्य की बुद्धि और वृत्ति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता जाता है। हमारे किसान भाइयों को चिल्लाकर, नगाड़े बजा-बजाकर नौटंकी गाने में सौन्दर्य का जो आभास प्राप्त होता है, उससे शिक्षित भाइयों का जी मतला उठता है। इसके विपरीत जब कोई कलावंत वीणा में कोई जटिल राग बजाता है, तो उस्ताद लोग वाहवाही देने लगते हैं, पर हमारे किसान भाई उसे सुनकर मन में यह धारणा बना लेते हैं कि यह बाबू लोगों की खामखयाली के सिवा और कुछ नहीं। उन्हें उसमें कोई रस नहीं मिलता। किसानों की बात दूर रही, हमारे शिक्षित भाइयों में अधिकांश रसज्ञ ऐसे मिलेंगे, जिन्हें गजलों और फिल्मी गानों के आगे राग-रागिणियों की अलौकिक रस-रंगमयी स्वर-लहरियाँ तुच्छ जान पड़ती हैं। पर राग-रागिणियों के स्वरवैचित्र्य और रस-रंग से जिनका मन भीग गया है, उन्हें गजलों और फिल्मी गानों से कितनी नफरत हो जाती है, विशेषज्ञों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। स्त्री के रूप के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। अशिक्षित लोगों में से अधिकांश ऐसे मिलेंगे, जो अपेक्षाकृत गोरे रंगवाली स्त्री को ही रूपवती समझ बैठते हैं, भले ही वह फूले गालोंवाली अथवा चिपटी नाकवाली हो। शिक्षित संप्रदाय में भी ऐसे लोगों की संख्या अधिक पायी जायगी, जिन्हें ऐसी स्त्री सौन्दर्यमयी लगती है जो गोरे रंग की हो और जिसकी नाक और गाल बहुत कदाकार न हों। जिस व्यक्ति की रुचि इससे कुछ बढ़ जायगी वह स्त्री की आंखों के सौन्दर्य का भी खयाल करेगा—वे बड़ी हैं या छोटी, गोल हैं या लंबी। पर रुचि के विकास का अन्त नहीं। जिसकी रुचि इससे भी बढ़ी-चढ़ी होगी वह स्त्री के सौन्दर्य पर और भी सूक्ष्म रूप से विचार करेगा। वह इस बात पर भी ध्यान देगा कि उसकी आंखों से बुद्धिमत्ता टपकती है या फूहड़पन। पर कवि की रुचि इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विकसित होती है। वह इन

सब बातों का खयाल करते हुए भी मुख्यतः इस बात पर गौर करेगा कि उसकी आंखों में कण्णा तथा स्नेह का भाव झलकता है या नहीं। बुद्धि, कण्णा तथा स्नेह से रहित सौन्दर्य को वह अत्यन्त घृणित समझेगा। हृदयहीन अनुपम शारीरिक सौंदर्य इसलिये उसके हृदय पर असर नहीं कर सकता। प्राकृतिक सौंदर्य का भी यही हाल है। पूर्णिमा की ज्योत्स्ना शिखित तथा अशिखित सभी व्यक्तियों को प्रिय मालूम देती है, पर अमावस का निविड़ कृष्ण रूप उच्च श्रेणी के कवि के अतिरिक्त और कौन देख पाता है ?

कोयल की कूक सभी को मीठी लगती है, पर सारस के कर्कश कंठ के मदकल कूजन का रस कालिदास की-सी प्रकृतिवाले कवि के अतिरिक्त और कौन ले सकता है ? और तो और, विशेष अवसरों पर कौओं के 'कल-कल-कलोल' से भी कालिदास तृप्त होते थे। मेघदूत में इसका उल्लेख है। इसका कारण क्या है ? जिस प्रकार किसी स्त्री का 'पूर्णता प्रातः' शारीरिक सौंदर्य सहृदयताहीन होने से कवि को नहीं भाता उसी प्रकार किन्हीं विशेष अवसरों पर कोयल की कूक की कोरी मिठास से उसका जी नहीं भरता, उसे दुःख तथा अंधकार के निविड़ सौंदर्य और कड़वे रस की चाह होती है।

इसी कारण काक-रव, कपोत-कूजन और सारस की बोली में उसे इतना स्वाद मिलता है। वसंत की बहार का मजा सभी लूटते हैं। उसके सौंदर्य के सम्बन्ध में किसी को द्विधा या संशय नहीं होता। पर आषाढ़ के प्रथम दिवस में रामगिरि से "वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षणीय" मेघ का अनुपम सौंदर्य देख कर केवल कालिदास की प्रकृति के कवियों का ही मन उछलता है। रवीन्द्रनाथ भी अनेक समय वसंत की मद विह्वलता से उकता कर घनघटाच्छन्न मेघ की निविड़ कालिमा के प्रति आकर्षित हुए हैं और कूजन-गुंजन से ऊँकर रुद्र का वज्रमंत्र सुनने के लिए लालायित हुए हैं। 'वर्षशेष' शीर्षक एक कविता में वह लिखते हैं :

एबार आसोनि तुमि वसंतेर आवेश हिल्लोले

पुष्पदल चूमि,

एबार आसोनि तुमि मर्मरित कूजेने गुंजने,

धन्य धन्य तुमि ।

रथ-चक्र घर्घरिया ऐसोछो विजयी राज सम
गर्वित निर्भय,
बज्रमंत्रे कि घोषिले बूझिलाम, नाहि बूझिलाम,
जय तव जय !

“इस बार तुम वसंत का आवेश-हिल्लोल साथ में लेकर, पुष्पदलों को चूमते हुए नहीं आये, इस बार तुम मर्मरित कूजन-गुंजन के साथ नहीं आये, हे नववर्ष, तुम धन्य हो ! तुम अपना रथ-चक्र घर्घरित करके विजयी राजा की तरह गर्वित तथा निर्भय होकर आये हो। तुमने अपने वज्र में क्या मंत्र घोषित किया, यह मैं समझ कर भी नहीं समझा। तुम्हारी जय हो !”

रुद्र का यह जो दिल दहलानेवाला, आतंक से कंपित करनेवाला, प्रलय का तांडव नृत्य मचानेवाला भीषण रूप है, इसका अनिर्वचनीय सौंदर्य कितने लोग देख पाते हैं ? हमारे शृंगार रस-रसिक कवि वसंत का अपमान करनेवाले इस कवि को अवश्य ही पागल समझेंगे। पर कालिदास, ग्येठे और रवीन्द्रनाथ की तरह जिन महाकवियों की आत्माएं मानव-जीवन के दुःखमय रस में पूर्ण से डूब कर उतरा भी गयी हैं, वे अन्य रसों का स्वाद लेते हुए भी निविड़ जीवन-रस से ही तृप्त होते हैं। इसी रस में उन्हें सौंदर्य का परिपक्व आदर्श दिखलाई देता है। कुछ भी हो, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि सौंदर्य का कोई निश्चित आदर्श नहीं। मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढ़ता जाता है, सौंदर्य के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा उसी रूप में जटिल होती और बदलती जाती है। यह धारणा कभी-कभी इतनी उद्भट हो जाती है कि साधारण मनुष्य भ्रांति से विमूढ़ होकर चकित रह जाता है। टालस्टाय और रवीन्द्रनाथ का कहना है कि किसानों के छलरहित, सभ्यता के ढकोसले से हीन, प्राकृतिक रस से स्निग्ध हृदय की जो आभा उनके चेहरों पर झलकती है, उसका सौंदर्य अनुपम है।

कालिदास की भी यही धारणा है। उन्हें हमने अश्लीलता का पुजारी और बाजारू कवि ही समझ लिया है। पर वह सौंदर्य के समस्त रूपों में

उसका रस लेना जानते थे । मैं तो उन्हें एक श्रेष्ठ योगी मानकर नित्य मन ही मन प्रणाम करता हूँ । इसमें सन्देह नहीं कि वह यौवन-मद-मत्ता, विलासिनी ललित बनिताओं के रूप पर मुग्ध हुए हैं, पर 'भ्रू-विलालासानभिज्ञ' कृष्णकामणी का सरल सौंदर्य भी तो वह देख पाये हैं :

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलालासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।

“कृषि का फल तुम्हारे ही अधीन होने से तुम्हें भृकुटि-रचना का कौशल न जाननेवाली, सरल स्वभाववाली ग्रामीणवधू प्रीति-स्निग्ध दृष्टि से देखेगी ।” कैसा सरल, स्निग्ध, आडम्बरहीन, स्वाभाविक, मधुर भाव इन दो पंक्तियों में भरा है ! ऐसे ही कवि अनेक रूपों की सौंदर्य-छटा से आंखों को तृप्त करके अंत को एक रूप में मिलित सौंदर्य के लिये लालायित होते हैं, ऐसे कवि धन्य हैं । ऐसे कवि योगी हैं । अलकापुरी का आनंदमय राज्य ऐसे ही सर्वदर्शी, सर्वप्रेमी कवियों के लिये है ।

मेघदूत काव्य को यदि हम सौंदर्य-कला की प्रदर्शिनी कहें तो अनुचित न होगा । इस काव्य के श्लोकों में सौंदर्य के अनेकानेक भिन्न-भिन्न रूप प्रस्फुटित हुए हैं । इसका प्रत्येक श्लोक विशेष-विशेष रूप के सौंदर्य को व्यंजित करता है । सौंदर्य किन-किन स्वरूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य में यही दिखलाया गया है । जिस प्रकार अव्यक्त के 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड कालिमा-लस वर्षा ऋतु के एक रूप से कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है । पूर्व-मेघ में यही दिखाया गया है, आरंभ में ही :

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः ।

तथा :

आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपायेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।

इस ढंग से सौंदर्य-लोकगामी मेघ की यात्रा प्रीतिपूर्ण विदाई के साथ मंगलमय कल्याण से अभिषिक्त होती है। इसके बाद सौंदर्य की लहरी पर लहरी इठलाती, बल खाती हुई नाचती चली जाती है। सबसे पहले यक्ष के प्रवास स्थान चित्रकूट में ही सौंदर्य की यह विचित्र प्रदर्शिनी आरंभ होती है। चित्रकूट के सम्बन्ध में यक्ष मेघ से कहता है :

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम् ।

“अर्थात् समय-समय पर प्रतिवर्ष तुम्हारा संयोग प्राप्त होने से सुदीर्घ विरह के कारण उष्ण भाप छोड़ कर यह पर्वत अपना स्नेह व्यक्त करता है।” इस भाव में कैसा अनुपम सौंदर्य है ! जब पदार्थ के वर्णन में ही कवि ने मनुष्य के हृदय से भी अधिक करुणापूरित स्नेह प्रस्फुटित किया है तब जीवित प्राणियों के सम्बन्ध में कहना ही क्या है। इसके बाद ‘रत्नच्छायाव्यतिकर’ (रत्नों की रंग-विरंगी कांति) के समान इन्द्रधनुष की छटा का सौंदर्य दिखलाया गया है। यक्ष कहता है कि “इन्द्रधनुष की आभा से तेरा श्याम शरीर गोप वेषधारी कृष्ण के मोर के रंग-विरंगे पंखों के समान शोभित होगा।”

फिर आगे चलकर पृथ्वी माता के स्तन के समान स्थित आम्रकूट पर्वत के वनचर-वधू द्वारा सेवित कुंज का वर्णन करके यक्ष कहता है :

रेवां द्रक्ष्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।

“विन्ध्य पर्वत के उपल-विषम पादमूल पर विशीर्ण (थकित हुई) रेवा नदी को तू देखेगा।” सौंदर्य की अनिर्वचनीयता की हद हो गई। पर्वत के तट-प्रांत में बड़े-बड़े भारी पत्थरों के आघात से थकित हुई नदी को ब्रजवनिता की तरह खिन्न बतला कर कवि ने प्राकृतिक शृंगार-रस की मोहिनी बरसा दी है। इस प्राकृतिक लीला में जो रस है वह किसी कामिनी की कमनीयता में नहीं पाया जा सकता। वही सौंदर्य एक और दूसरी जगह प्रस्फुटित हुआ है :

तीरोप्रान्तस्वनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्यात् ।

सुभ्रूभंगं मुखमिव पथो वेत्रवत्याश्चलोर्मिः ।

“तटप्रांत में शिलाभिघात के कारण मधुर गर्जन करनेवाली, चंचल कर्मि के कारण भ्रू-विलास प्रदर्शित करनेवाली वेत्रवती नदी का तू सलिलरूपी अघर-सुधा पान करेगा ।”

वन-गज के मदगंध से वासित, जंबू कुंज के तीर में बहनेवाले जल को ग्रहण करता हुआ, सारंगों के मार्ग से होकर चलता हुआ, सजल नयन मोरों द्वारा अभिनंदित होकर विश्राम करता हुआ, वन-नदियों में पानी बरसाता हुआ, उद्यानों में अपने नव-जलकणों से यूथिका-जालकों को सिंचन करता हुआ, गालों में उत्पन्न हुए स्वेदकणों को बार-बार पोंछने से क्लान्त कर्णोत्पलवाली मालिनी को शीतल छाया प्रदान करके उनसे ज्ञण-काल के लिए परिचित होकर जब मेघ मन्द-मन्द गति से चला जाता है, तब उस दृश्य में कितना अनुपम सौंदर्य भरा रहता है ! अभिराम सौंदर्य की कैसी अभिराम धारा बही चली जाती है इन श्लोकों में ! प्यासों को पानी पिलाने में, उत्कंठितों को दिलासा देने में, तप्तों को छाया प्रदान करने में जो माधुर्य है, उसके आगे कोई सौंदर्य नहीं ठहर सकता ।

स्वार्थ से अधिक सौंदर्य परमार्थ में है, और परमार्थ से अधिक मनो-हरता अनन्त के प्रति उद्देश्यहीन श्रद्धांजलि प्रदान करने में है । इसी कारण जब यक्ष मेघ को संध्या के समय उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में पूजा के अवसर पर अपने मधुर गर्जन से नगाड़ा बजाने का उपदेश देता है, तो इस भाव में भी अपूर्व सौंदर्य खिल उठता है ।

केवल यही नहीं, उत्सव के भाव में रमणीयता अवश्य है, पर युद्ध में लड़नेवाले वीरों के सिरों के सरासर धड़ अलग होने में भी सौंदर्य है । सामान्य कवि इस दृश्य में वीभत्सता देखेंगे, पर श्रेष्ठ कवि को यह दृश्य भी सौंदर्य-मंडित प्रतीत होता है । इसलिये कवि लिखता है :

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गांडीव ध्वन्वा,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यपैन्मुखानि ।

“(ब्रह्मावर्त प्रदेश में) गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन ने शत-शत तीक्ष्ण वाणों की वर्षा से राजाओं के सिर उसी तरह पृथ्वी में गिराये, जिस प्रकार तुम

प्रविरल धारापात से कमलों को बरसा कर नीचे गिराते जाते हो ।” इस सौंदर्य-पेपासु कवि की रुचि कितनी विकसित है ! वह सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य देखता है । कोमलता में, और काठिन्य में, विलासिता में और वीरत्व में, पाप और पुण्य में वह सौंदर्य के प्रति ही दृष्टि रखता है ।

ऊपर जिस सौंदर्य का वर्णन किया गया है, वह सुख-दुःख, आशा-नैराश्य, हास्य-क्रन्दन इन द्वन्द्वों से जर्जरित पृथ्वी माता का सौंदर्य है । पूर्वमेघ का संपर्क पृथ्वी तल से है । पर उत्तरमेघ का सौंदर्य इन सब द्वन्द्वों से परे है । उसमें सौंदर्य के नाना रूप एक आनन्दमय रूप से मिलित हो गये हैं । वह स्वर्ग का सौंदर्य है । उस सौंदर्य-लोक में लुधा-तृष्णा, पाप-ताप, जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने में नहीं आती । वहां के सम्बन्ध में कहा गया है :

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः ।

वहां आनन्द के कारण ही आंसू उमड़ते हैं, अन्य कारणों से नहीं । र पृथ्वी के सौंदर्य में “पुष्प कीटसम हेथा तृष्णा जेसेरय ।” फूल में कीड़े भी तरह तृष्णा यहाँ जगी रहती है ।

हर्ष की बात है कि हिन्दी के कवि भी सौंदर्य के इस उच्च आदर्श का अनुभव करने लगे हैं । ‘विशाल भारत’ की किसी एक संख्या में किसी एक कवि की ‘सौंदर्य’ शीर्षक कविता छपी थी, जिसकी कुछ पंक्तियां मुझे अभी तक याद हैं :

बहती है सौंदर्यसुधा उस राजमार्ग के तटपर
जहाँ खड़ी भिन्ना को दुखिया, अंचल मलिन बढ़ाकर ।

कैसा सुन्दर भाव है ! यह भाव चाहे पहले कितने ही कवि व्यक्त कर चुके हों, पर इसका सौंदर्य कभी पुराना नहीं हो सकता । राजमार्ग में कितने बड़े-बड़े धनी और मानी व्यक्ति चलते हैं, कितने ही धनी परिवार की सुन्दरी स्त्रियां आती-जाती हैं, पर निष्कपट हृदय की सरल आंखों में उसकी शोभा केवल एक उपेक्षिता, दीना, मलिना भिखारिणी को लेकर है ।

रूप कुरूप हुआ जाता है उस शोभा के आगे
जहाँ निर्धन के धन दो बालक सोते लोते जागे ।

इसमें अत्यन्त सरलता के साथ अन्तर्निहित सौंदर्य का स्वच्छ स्रोत बहाया गया है। निर्धन के धन, भगवान के पोष्य दो पुत्र—दो बालक—दो भाई ऊषा का निर्मल हास्य व्यंजित करते हुए अरुणोदय की तरह जाग रहे हैं। राफेल के 'मेडोना' के चित्रों की अपूर्व छाया इस भाव में छलकती है। इस भाव में मौलिकता भी यथेष्ट है :

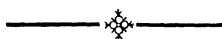
सुन्दरता की सीमा देखो, उल्लंघित उस थल है,
अमित कृषक के कृश शरीर से जहाँ बरसता जल है।

यह भाव मौलिक न होने पर भी सुन्दर है।

बरस रही अविराम मोहिनी उस छाया के नीचे,
पतिता के अनुताप कणों ने जहां कमलदल सींचे।

हृदय की कोमल करुणा और आत्मा की अनुपम उदारता का जो अभिनव सौंदर्य यहां व्यक्त हुआ है, वह अनन्य है। रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' कविता का भाव इसमें पाया जाता है। अनुताप-कणों की उपयोगिता तभी है जब वह जीवन के कीचड़ में खिले हुए कमलों को अधिकाधिक विकसित करने में सहायक सिद्ध हो।

अन्त में हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौंदर्य का कोई निश्चित मापदंड न होने पर भी उसका फुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग; सुन्दर, मंगल और सत्य का सामन्जस्य।



साहित्य में प्रेमतत्त्व

प्रेम एक ऐसी मनोवृत्ति है जो साहित्यिक विकास के आदिकाल से लेकर आज तक विश्व-साहित्य-क्षेत्र में अपना अटूट आधिपत्य जमाती चली आयी है। हमारे यहाँ यह किंवदन्ती चली आयी है कि आदि-कवि के अन्तर से कविता का जो उत्स फूट पड़ा उसके मूल में वह करुणा थी जो प्रेम-रत चक्रवाक-मिथुन में से एक की व्याध द्वारा हत्या हो जाने के कारण उमड़ उठी थी। अर्थात् मूल में जो प्रेरक-बीज था वह प्रेम ही था। प्राचीन-तम महाकाव्यों से लेकर छायावादी युग तक जितने भी रसात्मक साहित्य का सृजन हुआ है वह सब मूलतः प्रेम से संबंधित है। रामायण की मूल कथा सीता-हरण पर आधारित है, महाभारत के युद्ध के कई राजनीतिक तथा सामाजिक कारण होने पर भी कवि ने द्रौपदी के चीर-हरण को ही पांडवों की प्रतिहिंसा का केंद्रगत कारण दिखाया है। ग्रीक-साहित्य में होमर के 'ईलियड' की कथा में हेलेन के अपहरण से सम्बन्धित घटना अंतःसलिला की तरह बहती रहती है।

आदि महाकाव्य-युग के बाद भी क्या ग्रीक, क्या लैटिन और क्या संस्कृत-साहित्य में सभी साहित्य-स्रष्टाओं ने प्रेम-रस को ही मूलतः अपनाया है। देश और काल के अनुसार उस प्रेम-रस के प्रस्फुटन और प्रतिक्रियात्मक परिस्फुरण के रूपों में अंतर पाया जाना स्वाभाविक है, पर बीज-रूप में वह सभी में समानरूप से वर्तमान पाया जाता है। उदाहरण के लिये कालिदास का 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और ईस्काइलस का 'एगेमेमनन' को लीजिये। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में एक 'अनाघातं पुष्पम्' की तरह कोमल-स्वभाव तरुणी के हृदय में प्रस्फुटित सुकुमार प्रेम-भावना का जो विकास दिखाया गया है वह ऐसा मधुर और मोहक है कि उसकी अनुभूति प्राणों में एक सकरुण विह्वलता-भरी सरस वेदना छलका देती है। और इस सरल तरल प्रेम का सहज प्रवाह जब कपट और दुराचारपूर्ण सांसारिक यथार्थता के

माध्यम से होकर गुजरता है तब उस कठिन अवरोध और संघर्ष के फलस्वरूप उसकी परिणति भी एक विशेष ही रूप से होती है। शकुन्तला तापसी-जीवन की अपूर्व मधुरिमा द्वारा जिस मंगलमय रस का अभिसिंचन करने लगती है उसकी स्वर्गिक धाराएँ प्रेम को अमृतमय रूप प्रदान कर देती हैं, पर 'एगोमेमनन' में हम यह जान नहीं पाते। उसमें प्रेम की प्रतिक्रिया घोर बर्बर प्रतिहिंसात्मक रूप धारण कर लेती है। ग्रीक सेनानी एगोमेमनन जब द्राघ के युद्ध में विजयी होकर, लौटकर घर आता है, तब वह सब से पहले अपनी प्रियतमा पत्नी क्लाइटोमनेस्ट्रा से मिलने के लिये उत्सुक होता है। क्लाइटोमनेस्ट्रा इस बीच एक दूसरे आदमी के प्रेम-पाश में बँध चुकी होती है। पर वह केवल हृदय की विवशता के कारण ही पति को धोखा नहीं देती है, बल्कि काफी हद तक जानबूझ कर भी ऐसा करती है। उसके पति की सहमति से उसकी प्यारी लड़की को जब देवता की बलिवेदी पर चढ़ाया गया था तभी से वह अपने भीतर अपने पति के विरुद्ध उत्कट प्रतिहिंसा पाले रहती है। इसी प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह एक दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगती है, और उसी प्रवृत्ति के प्रवेगवश वह अपने पति—एगोमेमनन—की हत्या कर डालती है। इस दुःखान्त नाटक के भीतर ईस्काइलस ने मानवीय अन्तश्चेतना के भीतर बद्धमूल उन अगम रहस्यमयी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन बड़े ही गहरे और मार्मिक रंगों से किया है जो प्रेम तथा तज्जनित प्रतिक्रिया—घृणा और प्रतिहिंसा—के रूपों में बाहर व्यक्त होती रहती है; साथ ही उन जटिल मनोभावनाओं का विश्लेषण भी बड़ी ही बारीकी से किया है।

प्रेम दोनों रचनाओं का केन्द्रीय विषय है। पर दोनों के स्वरूपों में किस कदर—मूलगत वैपश्य है! 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में प्रेम का विकास सहज, सुन्दर, जटिल मनोग्रन्थियों से रहित रूप में दिखाया गया है। शकुन्तला अपने प्रेमी के द्वारा धोखा खाने और ठुकराये जाने पर आक्रोशवश क्षणिक उत्तेजित अवश्य हो उठती है। पर अपने अभिमान का बदला चुकाने के उद्देश्य से कोई कुटिल भावना उसके मन में नहीं जगती। बदला वह अवश्य चुकाती है, पर अत्यंत उन्नत, स्वस्थ और शालीन रूप से—सच्चे प्रेम से तपे हुए हृदय की ऐकांतिक साधना द्वारा। उस साधना की चरम परिणति

के बाद जब स्वर्गीय आश्रम में दुष्यन्त से उसका पुनर्मिलन होता है, और उसका दुलारा बेटा उससे पूछता है—“माँ, यह कौन है ?” तब वह सांकेतिक उत्तर देती है—“बेटा अपने भाग्य से पूछो !” इस एक सूत्र से शकुंतला के समान मुग्धा नारी के आत्मसमर्पणोन्मुख मान का अंतरीण रूप स्पष्ट प्रतिभान हो उठता है और साथ ही उसके जीवन की मूल केन्द्रीय धारा भी ।

पर क्लाइटमनेस्ट्रा की प्रतिहिंसा—जो प्रेम का ही विकृत रूप है—ज्वालमुखी की तरह कैसी भयंकर आग उगलती है ! आहत आत्मा कैसे प्रचंड विस्फोट का परिचय देती है ! शकुन्तला और क्लाइटमनेस्ट्रा, ये दोनों विश्व-साहित्य-विकास की दो समानान्तर धाराओं के प्रतीक हैं । इन दोनों धाराओं का मूल उत्स एक ही है—युग-युग में विकसित और विघटित होती रहनेवाली मानवीय मनोभावनाओं का अपरिचित ‘रिजर्वायर’ रहस्यमयी मानवीय अन्तश्चेतना ।

प्रेम से सम्बन्धित जितनी भी स्वरोधी, विरोधी अथवा अवरोधी भावनाएं हैं उन सब की मथन-क्रिया युग युग से इसी अन्तश्चेतना में चला करती है, और फलस्वरूप प्रति युग में साहित्यिक स्वरूपों, शैलियों, विचारों और आदर्शों के नये-नये, परिवर्तित रूप देखने में आते रहते हैं । किसी भी युग में जो कोई भी साहित्यिक कृति अपनी गहरी छाप जमाने में समर्थ होती है उसके सम्बन्ध में इतना निश्चित रूप से जान लेना चाहिये कि उस की उत्पत्ति मूलतः प्रेम अथवा तज्जनित प्रतिक्रिया से हुई है । यह आवश्यक नहीं है कि उस रचना में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम, घृणा अथवा प्रतिहिंसा का प्रस्फुटन किसी न किसी रूप में होना ही चाहिये । प्रेम अथवा उसकी प्रतिक्रिया के प्रत्यक्ष वर्णन के बिना भी कई साहित्यिक कृतियाँ कलात्मक स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं । उदाहरण के लिये शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध नाटक ‘जूलियस सीजर’ में प्रेम की कोई चर्चा ही कहीं पर नहीं आती । यह एक राजनीतिक नाटक है । पर सारे राजनीतिक चक्रजालों के अन्तराल में स्नेह-प्रेम, घृणा-विद्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र अटूट क्रम से चलता रहता है । सीजर के सच्चे प्रशंसक ब्रूटस की कर्तव्य-भावना विद्रोही होकर हिंसा का रूप धारण कर लेती है, सीजर की हत्या का कारण बनती है, और एन्डोनी का सीजर के

प्रति भाव—प्रवण प्रेम जनता को ब्रदुस के विरुद्ध भड़काने में सफलता प्राप्त करते हैं। इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों के धुरे पर नाटक का सारा चक्र घूमता रहता है। उसी प्रकार सुप्रसिद्ध भारतीय नाटक 'मुद्राराक्षस' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रेम की चर्चा तो क्या कहीं एक भी स्त्री-पात्र की अवतारणा तक नहीं की गयी है। तब कोरमकोर राजनीति से भरा है। 'जूसियस सीजर' का राजनीतिक तत्त्व इसके आगे फीका पड़ जाता है पर इसकी भी मूल परिचालिका शक्ति प्रेम ही है। राक्षस का अपनी मान-मर्यादा के प्रति प्रेम, चाणक्य का अपने-अपने प्रतापी किंतु पराजित प्रतिद्वन्द्वी के प्रति आकर्षण और सम्मान-पूर्ण सहृदयता, दोनों की उन्नत अहंवादिता, पारस्परिक प्रेम और घृणा-जनित संघर्ष-विघर्ष और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये सब मूल में उसी आदिम प्रेमतत्त्व से ही सम्बन्धित हैं।

भक्त कवियों के काव्य का भी मूल आधार प्रेम ही है—उन्नत, परिष्कृत, उदात्तीकृत स्वर्गीय प्रेम। मीरा की पदावलिyaं भी उसी महान् प्रेम से ओत-प्रोत हैं। भूषण की वीररसात्मक रचनाएं भी मूलतः प्रेम ही से सम्बन्धित हैं—जाति-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम।

प्रत्यक्ष में प्रेमतत्त्व के प्रति विमुख विशुद्ध मार्क्सवादी साहित्यिकों की रचनाएं भी उससे अछूती नहीं हैं। मार्क्सवादी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति गोर्की का 'मां' नामक उपन्यास प्रेमरूप से लबालब भरा है। इस उपन्यास में मां का पुत्र के प्रति प्रेम विकास पाकर सारी नयी पीढ़ी को संतान मानकर उसके प्रति अपनी संपूर्ण आत्मा का वात्सल्य रस निचोड़ने को तत्पर हो उठता है। वह उन सब तरुणों की मंगलमयी, स्नेहमयी मां बन जाती है जो बन्धनग्रस्त राष्ट्र के पीड़ितों और दलितों के अन्तर—राष्ट्रीय स्वर्ग में परिणत करने पर तुले होते हैं।

चाहे सामंतयुगी साहित्य को लीजिये, चाहे पूंजीवादी साहित्य को और चाहे उच्चकोटि के विशुद्ध मार्क्सवादी साहित्य को, सब के मूल में प्रेम का प्रेरक बीज वर्तमान पाया जायगा।



वर्तमान हिन्द साहित्य की प्रवृत्तियाँ

आज जिस प्रकार बाहर का जीवन अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित हो उठा है, उसी प्रकार भीतर का जीवन भी ढाँवाडोल है और अनिश्चित दिशाओं में भटक रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने जो समस्याएँ खड़ी की थीं वे युद्ध की समाप्ति के बाद—तथाकथित शांति-काल में—और अधिक उलझे हुए रूपों में सभी चिंतकों के सामने आ रही हैं। उस उलझन का प्रभाव स्वभावतः साहित्य पर भी पड़ा है। सारे विश्व-साहित्य के आगे आज की व्यापक आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ विकट चट्टानों की तरह अवरोध खड़ा करके उसकी मुक्त और बहुमुखी गति को रोक रही हैं। आज का साहित्यकार जब बाहर की समस्याओं के समाधान की ओर प्रवृत्त होता है तब भीतर की समस्याएँ उभरने लगती हैं और जब वह भीतर की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करने लगता है तब बाहर की समस्याएँ उसका गला पकड़ने लगती हैं। दोनों में कहीं कोई सामंजस्य उसे नहीं दिखाई देता और फलस्वरूप उसके आगे गत्यवरोध खड़ा हो जाता है।

हिन्दी साहित्य भी इस गत्यवरोध से बच नहीं पाया है। कविता के क्षेत्र में तो इसका ऐसा सुस्पष्ट प्रभाव पड़ा है कि महादेवी जी ने एक प्रकार से कविताएँ लिखना बन्द ही कर दिया है। पंत जी 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' के बाद अब जो कुछ भी लिख रहे हैं वह बहुत सुन्दर होते हुए भी एक प्रकार का पिष्टपेषण ही है। निराला जी के जो नये गीत 'अर्चना' के नाम से प्रकाशित हुए हैं वे अत्यन्त भावपूर्ण होने पर भी कवि की प्रतिभा की किसी नयी दिशा को नहीं बताते। छायावादी युग के दूसरे कवियों का भी यही हाल है। रामकुमार वर्मा यदाकदा एक आध-कविता लिख लेते हैं। उन्होंने नाटक-रचना पर ही अपनी सर्जनात्मक शक्ति को केन्द्रित-सा कर लिया है। भगवतीचरण वर्मा ने भी काव्य-रचना से हाथ खींच

लिया है और वे उपन्यासों की ओर अधिक झुके हैं। वैसे इधर उन्होंने एक राजनीतिक काव्य आरम्भ किया है, पर कविता की दृष्टि से उसकी सफलता का प्रश्न विवादास्पद है। केवल बचन जी एक ऐसे कवि रह गए हैं जिनकी काव्य-प्रतिभा अभी तक कुँठित नहीं हुई है। वह अभी तक उसी धड़ल्ले से लिखे चले जाते हैं जिस तरह महायुद्ध के पूर्व लिखते थे। यह आश्चर्य ही है कि उनके भीतर किसी तरह की कोई उलझन आज के विश्वव्यापी उलझनों के युग में भी नहीं पायी जाती। आज का सामूहिक जीवन जिन उलटे-सीधे आर्थिक और राजनीतिक चक्रों के बीच में अत्यन्त निर्मम भाव से पिसता चला जा रहा है और उस सामूहिक पीड़न के फलस्वरूप जो एक नयी चेतना धीरे-धीरे जागती हुई साहित्य के विस्तृत प्रांगण में ऊपर उठने का प्रयास कर रही है उसका कोई आभास बचन जी की नयी कविताओं में नहीं पाया जाता। बाहरी और भीतरी दुनियाँ की जो जटिल समस्याएं एक दूसरे से टकरा कर दूसरे कवियों को डाँवाडोल कर रही हैं, उनके प्रभाव से बचन जी मुक्त हैं। उनके आगे सभी प्रश्न—चाहे वे परस्पर-विरोधी ही क्यों न हों—बड़े सीधे रूप में आते हैं और अपने कुछ बँधे हुए, निश्चित विश्वासों के अनुसार वे उनका समाधान भी अपनी कविताओं में सुस्पष्ट ढंग से करते चले जाते हैं। हाला-वादी युग में बचन जी के विश्वासों का जो ढाँचा बन चुका था उसके मूल रूप में अभी तक कोई अन्तर नहीं आया है, केवल उसके बाहरी रंगों में परिवर्तन हुआ है। आज भी वह एक ओर कृष्ण और राधा की प्रेम-लीला के शृंगारी कवि जयदेव की प्रशंसा में सुन्दर भावुकतापूर्ण कविता बिना मन की किसी सिकुड़न के लिख लेते हैं और दूसरी ओर विकल विश्व की समस्याओं का समाधान भी बड़ी आसानी से कर लेते हैं।

पर जिन कवियों की अन्तरानुभूति अधिक तीव्र और वाह्य दृष्टि अधिक व्यापक होती है उनकी उलझनें भी उतनी ही जटिल होती हैं। विकल विश्व की समस्याओं का समाधान उन्हें उतना आसान नजर नहीं आता, और आकुल अन्तर की समस्याओं को ऐसे अवसर पर आगे रखने में उनका विवेक हिचकिचाता है जब कि सामूहिक जीवन बाहरी शक्तियों के यांत्रिक प्रेषण से कुचला जा रहा हो।

फिर भी कवि पंत ने अन्तर और बाह्य जीवन की महान समस्याओं के सम्मिलित समाधान का प्रयास अपनी 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में किया है। आज के सभी महान चिंतकों के मन में मनुष्य-जाति के भविष्य के संबंध में जो प्रश्न उठ रहे हैं वे पंत जी के शब्दों में इस प्रकार हैं :

मानव-संस्कृति का क्या स्वर्ण बसायेगा वह भूपर,
भीषण अणु का भूप्रकम्प या छोड़ेगा प्रलयंकर ?
नव-मनुष्यता होगी भू-संगठित कि राष्ट्र विभाजित ?
अन्तर्दैवों से प्रेरित या भूत-दैत्य से शासित ?
धरा बनेगी शांति-धाम या रक्त-क्षेत्र रण-जर्जर
अमृत व्योम से बरसेगा ? या विष-वह्नि विनाश भयंकर ?

मानव-जीवन और मानव-मन की इन समस्याओं के समाधान के रूप में जो सुझाव पंत जी ने उपस्थित किये हैं उनका सार इस सूत्र में निहित है :

बहिरंतर के सत्यों का जग-जीवन में कर परिणय,
ऐहिक-आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

उनके मत से जब बाहरी जीवन के सत्यों का सामंजस्य अंतर्जीवन के सत्यों से किया जाने लगेगा, भौतिक जीवन से आत्मिक जीवन के समन्वय की ओर मानवता सचेष्ट होगी तभी मानव-जाति सामूहिक और स्थायी कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकेगी। इसमें संदेह नहीं कि यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव है। पर फिर यह प्रश्न रह जाता है कि जिन भौतिक स्वार्थों के पारस्परिक संघर्ष के कारण आज बाह्य जीवन में व्यापक विषमताएं वर्तमान हैं उनमें अंतर्जीवन के सत्यों की स्थापना कैसे की जाय ? जब तक उन भौतिक विषमताओं का निराकरण भौतिक ही उपचारों से नहीं होता तब तक आज के युग की दानवीय शक्तियां अंतर्जीवन के सत्यों को भू-जीवन पर पनपने के लिये अवकाश ही कहाँ देती हैं ? अतएव कवि फिर उलझन में पड़ कर रह जाता है।

अंतर्जीवन के सत्यों के विकास में आज के युग की भौतिक और यांत्रिक शक्तियां कैसी विकट बाधाएं उपस्थित कर रही हैं इसकी अभिव्यक्ति नये कवियों की प्रयोगवादी कविताओं में बहुत तीखे रूप में हो रही है। प्रयोगवादी

कविताएं अभी तक प्रयोग की ही स्थिति में हैं, और अभी से इस सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि हिंदी साहित्य के भावी इतिहास में वे अपना चिह्न किस हद तक छोड़ जायेंगी। प्रयोगवादी शैली को अपनाने वाले अधिकतर वे युवक कवि हैं जो भाव-प्रवण होने के कारण एक ओर अपने अंतर से उद्भूत होने वाले भावों और रसों के उद्गेलन से संतुब्ध हैं और दूसरी ओर आज के विषम जीवन की कठोर और निर्मम यथार्थता से आतंकित। इन दोनों के संघर्ष से एक विचित्र-सी प्रतिक्रिया उनके भीतर हुई है जिसने उन्हें अंतर और बाहर के सभी नियमों के विरुद्ध विद्रोह की भावना उनके मन में भर दी है। फलस्वरूप जीवन के प्रति एक 'सिनिक' का सा व्यंगात्मक भाव उनकी कविताओं में दृष्ट होता है। इसी कारण-उन्होंने अनियम को ही नियम, रीतिहीनता को ही रीति मान कर, जानबूझ कर—सप्रयास—आज के जीवन की ही तरह अस्तव्यस्त, अनियमित और विशृंखल शैली, भाव और भाषा को अपनाया है। उनके इस अनियम में भी एक नियम ठीक उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार हैमलेट के पागलपन के पीछे भी एक निश्चित योजना थी। पर इतना निश्चित है कि आज के जीवन की जटिल समस्याओं की चुनौती को साहस के साथ स्वीकार करने के बजाय हमारे प्रयोगवादी कवियों ने उनसे भागने और कतराने का ही रुख अख्तियार किया है। जीवन के प्रति व्यंगात्मक दृष्टिकोण को अपनाने से भी उनकी उस भगोड़ी मनोवृत्ति और भीतर की भय-भावना छिप नहीं पायी है। इस सम्बन्ध में हम उदाहरण के लिए श्री धर्मवीर भारती की 'ठंडा लोहा' शीर्षक कविता को ले सकते हैं।

कवि ने इस कविता में अपने तथा अपने इच्छित जन के मिलन के पथ में पड़े हुए ठंडे लोहे को एक विराट अवरोध के रूप में पाया है—वह ठंडा लोहा जो आज के युग की विश्वव्यापी यांत्रिकता का प्रतीक है। कवि अंतर की तीव्र वेदना के साथ यह अनुभव करता है कि जब तक यह ठंडा लोहा जीवन के बीच में वर्तमान है तब तक अंतर्जीवन की भावनाओं के द्वार रुद्ध पड़े रहेंगे, उसके स्वाभाविक विकास के लिये मुक्त वातावरण प्राप्त नहीं हो सकेगा। पर इस ठंडे लोहे को गरम करके उसे किस प्रकार जीवन के उप-

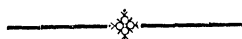
योग में लाया जा सकता है और भौतिक साधनों के सदुपयोग द्वारा किसी प्रकार भौतिक और यथार्थवादी आधार पर ही समुन्नत सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की नींव खड़ी की जा सकती है, इस समाधान और अपनी अंतर्भाव-शक्तियों को प्रेरित करने का कोई प्रयत्न हम इस प्रकार की कविताओं में नहीं पाते। फिर भी कवि की ईमानदारी पर हमें कोई संदेह नहीं है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी इधर नयी प्रवृत्तियाँ नजर आ रही हैं। वर्तमान युग के सभी कथाकारों ने जीवन की एक ही ढंग की पृष्ठभूमि को नहीं अपनाया है, एक ही ढंग के पहलुओं पर प्रकाश नहीं डाला है। उनमें से किसी ने वैयक्तिक जीवन के सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष पर प्रकाश डाला है, किसी ने आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से व्यक्ति और समष्टि के द्वन्द्व को दिखाने का प्रयास करते हुए यह चित्रित किया है कि उस बाहरी द्वन्द्व का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्जगत के द्वन्द्व से किस हद तक है, और किसी ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि व्यक्तियों के अपने ही भीतर के द्वन्द्वों और संघर्षों के फलस्वरूप किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्षों की पृष्ठभूमि तैयार होती है और किस प्रकार उन असामाजिक तथा उच्छृङ्खल प्राणियों की उत्पत्ति होती है जो अपने अत्यन्त अनुभूतिशील अहम् की विकृत प्रतिक्रिया द्वारा सामूहिक जीवन-विधातक, वेपैले मनोवैज्ञानिक वातावरण के धुंध से सारे समाज को छा देते हैं।

ये नयी प्रवृत्तियाँ केवल पहले से जमे हुए उपन्यासकारों में ही नहीं, नये उपन्यासकारों में भी पायी जाती हैं, यद्यपि अधिकांश नये उपन्यासकार अपने वेचारों में उलझे हुए पाये जाते हैं।

नाटक के क्षेत्र में भी नये प्रयोग¹ हो रहे हैं। यद्यपि रामकुमार वर्मा, प्रशक, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि नाटककार अभी तक पुराने ढंग के रोमांटिक और रहस्यात्मक प्रयोगों से अभी पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये हैं तथापि वे युग के गंभीर सामाजिक प्रश्नों के प्रति सजग होने का प्रयास कर रहे हैं। नये नाटककार भी नये-नये प्रयोग कर रहे हैं, यद्यपि वे अभी तक किन्हीं निश्चित तप-रेखाओं और निश्चित दृष्टिकोणों को नहीं अपना पाये हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्रों की बदलती हुई पृष्ठभूमि के अनुरूप नयी प्रवृत्तियाँ प्रवेश करती चली जा रही हैं जो आने वाली साहित्यिक उथल-पुथल की सूचक हैं। यह ठीक है कि नये लेखकों और कवियों की नयी प्रवृत्तियाँ और नयी शैलियाँ अभी तक केवल छिटपुट और अनिश्चित प्रयोगों के रूप में सामने आ रही हैं। इस अनिश्चित स्थिति का कारण आज के युग की अनिश्चित और अव्यवस्थित परिस्थितियाँ हैं। फिर भी यह निश्चित है कि यह प्रयोगात्मक स्थिति धीरे-धीरे एक सुस्पष्ट, सुयोजित और सुनिश्चित साहित्य-धारा में परिणत होकर रहेगी।



साहित्य में विषाद रस

मनुष्य की सुकुमार वृत्तियों की अभिव्यक्ति में विषाद रस ने विशेष स्थान अधिकृत किया है। संसार साहित्य के इतिहास में इस रस की प्रधानता पायी जाती है। विषाद रस अलंकार शास्त्र के करुण रस से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, बल्कि करुण रस ही इस महारस का एक अंग है। जब कवि संसार के प्रतिदिन के सुख-दुःख का तथा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में मनुष्य को पग-पग पर प्राप्त होनेवाली बाधाओं का चित्र अंकित करने बैठता है तब उस चित्रांकन से जो रस उद्बलित होता है, वही विषाद रस है। विषाद का भाव जीवन की विपमता के कारण मनुष्य की प्रकृति में निहित है, इसलिए कवि आनन्द का भाव प्रस्फुटित करने की लाख चेष्टा करता है, पर “कँह चंद्रिका चंद्र तजि जाई ?” विषाद छाया की तरह उस भाव की आड़ में छिपा रहता है। कवि को मालूम नहीं होने पाता कि उसका यह चिर-रहस्यमय सहचर कब और कहां से खाना हुआ था। साहित्य-रचना के आदिम युग से कविगण विषाद का भाव चित्रित करते आये हैं। होमर के महाकाव्यों तथा सोफाक्लीज़ और यूरिपिडीज़ आदि ग्रीक नाटककारों की ट्रेजेडियों में विषाद का भाव कूट-कूट कर भरा है। हमारे यहां रामायण की सारी कथा में विषाद का ही प्राधान्य है। राम का भाई तथा स्त्री के साथ वनवास, सीता-हरण, लंका का युद्ध, पुत्र के निर्वासन के कारण दशरथ की मृत्यु, माताओं का कठिन दुःख, भ्रातृस्नेह के कारण भरत का कठिन ‘असिधार व्रत’ आदि सभी घटनाएं कितनी दुःखमूलक हैं, यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन कठिन दुःखों का अंत होने भी न पाया था कि सीता वनवास का विकराल दुःख उग्र रूप लेकर सामने आ उपस्थित हुआ। सीता-त्याग से अधिक करुणोत्पादक घटना की अवतारणा संसार-साहित्य के अन्य किसी भी ग्रंथ में शायद नहीं हुई। इस महाकठिन दुःख की समस्या का कोई समाधान ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार महाभारत के

भीषण युद्ध को सुखमूलक कौन बतला सकता है ? इस युद्ध से असंख्य लोगों का विनाश साधन हुआ, जिनमें कई ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष थे जो अधिक दिन जीते तो संसार के कल्याण साधन में विशेष सहायक होते । इस धर्मयुद्ध का फल यह हुआ कि राज्य प्राप्त होने पर पांडव युद्ध की भीषणता देखकर संसार में ही विरक्त होने का विचार करके मौन भाव से महाप्रस्थान के दिन की अपेक्षा करने लगे । इस घोर युद्ध के कारण समस्त राज्य की आवहवा में विपाद का भाव किस प्रकार व्याप्त हो जाता है, इसका उल्लेख महाभारत में विस्तारपूर्वक किया गया है । गीता के आत्मतत्त्व का माहात्म्य जब कृष्ण के चिर सहचर पांडवों के हृदय में ही दृढ़ता उत्पन्न न कर सका, तो औरों के सम्बन्ध में कहना ही क्या है ! युधिष्ठिर के हृदय में युद्ध ने कैसी विभीषिका उत्पन्न कर दी थी, इस बात को महाभारतकार ने बड़ी खूबी से समझाया है । अन्य पांडवों का भी यही हाल था ।

उसी प्रकार कुन्ती, गांधारी, धृतराष्ट्र, विदुर आदि विज्ञ और धीर स्त्री-पुरुषों की मानसिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय हो जाती है । विश्ववाओं तथा पुत्रहीन माताओं का हृदयविदारक रुदन हम जैसे अपने अंतःकरण के कानों से सुनते हैं । नात्पर्य यह कि सर्वत्र हाहाकार सुनाई पड़ता है तथा विपाद की ही छाया दिखलाई देती है । महाभारत में निष्काम कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, और पांडवों ने भी उसका माहात्म्य स्वीकार किया है । पर उन्हें उस धर्म को निभाने में जिन घोर दुःखों का सामना करना पड़ा है, उन्हीं से इस महाकाव्य में विपाद प्रस्फुटित हुआ है ।

यूरोप के अर्वाचीन साहित्य में विपाद की रेखा प्रगाढ़ रूप से अंकित है । शेक्सपीयर, रैटे, शिलर आदि नाटककारों तथा कवियों की रचनाओं में विपादरस कूट-कूट कर भरा हुआ पाया जाता है । शेक्सपीयर के 'हैमलेट' में यह रस पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया है । रैटे के 'वेरेर' तथा 'फौस्ट' में मानव-जीवन की असफलता, मनुष्य-चरित्र की दुर्बलता, स्वार्थ-मग्न संसार की संकीर्ण हृदयता आदि और भी कई निराशाजनक कारणों से जीवन की व्यर्थता का चित्र प्रतीकलित हुआ है । 'बायरन' की निराशावादिता के कारण 'बायरनिज्म' का प्रचार चल गया था । इटली में लिओपार्दी, फ्रांस

में ह्यूगो, लामार्टीन आदि और रूस में पुश्किन प्रमुख कवियों की रचनाओं में विषाद ही केन्द्रगत भाव है। उन्नीसवीं शती के यूरोपियन साहित्य में शायद ही कोई श्रेष्ठ लेखक ऐसा देखने में आवे, जिसकी रचना विषाद के भाव से संश्लिष्ट न हो। शेली का जीवन जिस प्रकार संकटाकुल था, उसकी कविता में उसी प्रकार दुःख की प्रगाढ़ छाया पड़ी है। 'स्पिरिट आफ डिलाइट' (आनन्दमयी आत्मा) की खोज में वह व्यस्त है, पर 'वेस्ट विंड' की सर्वध्वंसी, उच्छृङ्खल छायात्मा तथा 'स्पिरिट आफ नाइट' (रात्रि की छाया-त्मा) के प्रगाढ़ अंधकारमय और सर्व-संहारक होने पर भी उनके नवजीवन और उज्ज्वलता के सूचक रूप पर वह जी-जान से मुग्ध है। वर्ड्सवर्थ तथा टेनीसन के समान शांत-प्रकृति कवियों की कविता तक में विषाद का मृदु भाव पाया जाता है। लूसी नाम की एक अज्ञात, छोटी और प्यारी-सी लड़की के कर्मनिरत सेवापरायण, निरानंद तथापि शांत, संयत और निर्विकार जीवन की करुण गाथा के वर्णन में वर्ड्सवर्थ की कविता का मूल भाव केन्द्रीभूत होता है। टेनीसन की कविता उसके 'लोटस ईटर्स' (कमल भक्षक) के 'क्लांत मन के मंद मधुर विषाद' से सर्वत्र आच्छन्न हुई है। इन दो कवियों के विषाद भाव में तथा गोल्डस्मिथ के 'ऊजड़ गांव' और 'वेकफील्ड का पादड़ी' के मूल रस में हैमलेट का तीव्र विद्रोह नहीं झलकता, इसमें संदेह नहीं, पर इन कवियों की कल्पना में अनंत के कठिन सनातन नियम ('एटर्नल-ला') के पदप्रांत पर विरहिणी मुग्धा नायिका की तरह सहनशीलता के साथ आत्म-समर्पण करने का भाव प्रस्फुटित होता है।

ईसा का मतवाद दुःख के प्रति यही भाव पोषित करने का उपदेश देता है। इस मत में दुःख को धर्म का एक आवश्यक अंग बतलाया गया है। ईसा की इस उक्ति में कि "शोक मनाने वाले धन्य हैं, क्योंकि उन्हें सात्वना मिलेगी" में यही भाव झलकता है। इसलिए यूरोप में कई श्रेष्ठ साहित्यिकों तथा शिल्पियों ने यह भाव अपनाया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिले ने जब किसानों तथा मजदूरों के जीवन के मधुर चित्र अंकित किये, तब यूरोप में विषाद रस का अपूर्व प्लावन बह गया। टाल्सटाय ने अन्य कई प्रसिद्ध चित्रकारों तथा कलाकोविदों की तीव्र निन्दा करते हुए मिले के

सम्बन्ध में लिखा था कि विषाद का विशुद्ध तथा पवित्र भाव दर्साने के कारण उसके चित्र, ईसाई धर्म के अनुकूल हैं। रूसो, उसके भक्त टाल्सटाय, तथा इन दोनों के भक्त रोमां रोलां—इन तीनों मनीषियों ने ईसा के मतवाद के मूल भाव को ग्रहण कर मानव-जीवन में स्थित विषाद के भाव को गर्व के साथ अपनाया और उसे महिमामयित किया है।

कालिदास के मेघदूत में चिर-विरहज विषाद का ही संस्करण, पर मधुर तथा आनन्दमय गीत गाया गया है। 'कुमार संभव' में पार्वती की कठिन तपस्या में, विशुद्ध तथा स्थायी प्रेम के लिए आवश्यक कठिन त्याग तथा दुःख की चिर-कालिक महिमा का ही प्रतिरूप झलकता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' यद्यपि सुखांत नाटक है, पर अन्त में दुःखन्त तथा शकुन्तला का मिलन संघटित होने पर भी पढ़नेवाले के हृदय में दुःखिनी शकुन्तला के 'नियम-ज्ञाम' सुख की ही छाया पड़ी हुई रहती है। 'उत्तर रामचरित' में भी राम-सीता के अन्तिम मिलन के बावजूद, हृदय में प्रतिध्वनित निर्वासिता सीता का 'विग्ना कुररीव' दीर्घ क्रन्दन किसी तरह थमना नहीं चाहता।

ऐसा क्यों होता है ? मनुष्य को आनन्द के विशुद्ध भाव से विरह-मिश्रित आनन्द क्यों इतना सुखकर प्रतीत होता है ? कोरे सुख की अपेक्षा विरह-मिश्रित आनन्द क्यों इतना सुखकर लगता है ? विशुद्ध हास्य की अपेक्षा स्नेह-गलित आनन्दाश्रु क्यों प्रिय मालूम देते हैं ? नवीना किशोरी की प्रेम-जनित चंचलता से परिणत-यौवना रमणी के मातृहृदय से विकसित गांभीर्य क्यों मधुरतर जान पड़ता है ? मनुष्य की यह विषाद-आहिणी प्रवृत्ति अत्यन्त रहस्यमय है। वसंत के उज्ज्वल प्रभात से शरत्काल की प्रशांत संध्या हृदय में अधिक उत्सुकता उत्पन्न करती है। नदी के चंचल कलहास्य से समुद्र का विकराल गांभीर्य कवियों को अधिक मोहित करता है। उद्यान की रमणीयता से अरण्य की मर्मर-ध्वनि चित्त को अधिक आंदोलित करती है। रवीन्द्रनाथ को छाया के भाव ने अधिक मोहित किया है। व्यक्त के पीछे वह सदा अव्यक्त की छाया के संधान में रहे हैं। उज्ज्वलता के दृश्य से उनके हृदय में अन्धकार की छाया घनीभूत हुई है। विषाद के गांभीर्य का उन्होंने गौरव के साथ वर्णन किया है। अपनी एक कविता में वह स्वयं लिखते हैं :

“यदि आज मेरी प्रिया जीवित होती तो उसे मैं अपने हृदय में स्थित विषाद की बृहत् छाया तथा सुगंभीर विरह की वेदना से परिचिन कराता ।” इसी बात को उन्होंने फिर से समझाया है : “जिस प्रकार दिन का अवसान होने पर रात्रि के अन्धकार-निलय में विश्व अपने ग्रह-तारकाओं को लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास-परिहास से मुक्त मेरे हृदय में वह अन्तहीन जगत् का विस्तार देखती ।” आत्मा की विपुलता, अन्धकार की विजयता ही में प्रगट होती है । उज्ज्वलता में चांचल्य का भाव वर्तमान रहता है और अन्धकार में एक प्रकार का स्थायित्व है । इसी कारण अन्धकार की स्तब्धता कवियों को इतनी प्रिय है । संध्यातारा के स्तिमित प्रकाश में एक प्रकार का मधुर तथा स्थायी विषाद का भाव वर्तमान है । इसलिए कितने ही कवियों ने कितने ही प्रकार से इसके सौंदर्य का वर्णन किया है, पर फिर भी उन्हें तृप्ति नहीं हुई । लूसी के सम्बन्ध में बर्ड्सवर्थ की यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई है : “वह सांध्य आकाश में टिमटिमाने वाले एकमात्र तारे के समान सुन्दर थी ।” रवीन्द्रनाथ ने भी संध्या-तारा का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है । ‘संध्या-लक्ष्मीर मत संध्यातारा करे’ आदि पद अत्यन्त सुन्दर जान पड़ते हैं । किसी नायिका के प्रति स्थायी प्रेम का उल्लेख करने के समय कविगण छायामय अन्धकार का भाव ही अधिक देख पाते हैं । वायरन ने अपने स्थिर प्रेम की भावना के लिए भी अन्धकार के भाव की आवश्यकता समझी । अपनी एक प्रिया के सम्बन्ध में वह लिखता है : “प्रकाश तथा अन्धकार में जो कुछ भी सौंदर्य मरा है, वह मिलकर उसमें एकाकार हो गया है ।” दुष्यन्त का चंचल प्रेम जब सुदीर्घ विरह के कठिन दुःख से स्थिरता प्राप्त करता है तब मृगनयनी शकुन्तला के चंचल कटान्त तथा भ्रू-विलास की अपेक्षा उसका नियम-क्षाम मुख ही उसे अधिक आनन्दकर प्रतीत होता है । शकुन्तला अब नवीना प्रेमिका नहीं रह गयी है । उसके व्यथित हृदय से अब जननी-मुलभ वात्सल्य-रस सिग्ध भाव से टपका पड़ता है । इसलिए उसका नियम-क्लिष्ट, रस-मंडित मुखमण्डल दुष्यन्त के हृदय में प्रगाढ़ विषाद की सुदीर्घ छाया घनीभूत करके उसको विमुग्ध कर देता है । छाया के अन्धकार में यह जो स्थायित्व का भाव छिपा हुआ है, उसकी मोहिनी अपूर्व रहस्यमय है ।

गीति-कविता में जिस कारण से विषाद की छाया वर्तमान पायी जाती है, नाटकों तथा उपन्यासों में वह कारण हम नहीं पाते। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में विषाद का मूल कारण दुष्यन्त तथा शकुन्तला की चरित्रगत दुर्बलता है। इन दोनों के बीच गांधर्व-विवाह का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था, उसके मूल में प्रेम की निगूढ़ वेदना नहीं वरन् वासना की चंचलता निहित थी। यही कारण था कि दुष्यन्त शकुन्तला को गर्भाधान संस्कार के बाद कठिन विरह-दुःख में अकेली छोड़ कर चले गये। लोकलज्जा के विचार से ही उन्होंने उससे सम्बन्ध बनाये रखना उचित नहीं समझा। दुर्वासा के शाप ने इसके पश्चात् उन्हें मतिभ्रष्ट किया था। शकुन्तला का प्रेम भी आरम्भ में अन्तस्तल की वेदना से उत्थित प्रेम नहीं था, वह प्रथम यौवन की विलोल-हिल्लोल वासना के मद से विभोर, प्रथम वरणीय पुरुष के दर्शन से मुग्ध, नवीना युवती की विभ्रान्त विह्वलता थी। यही विह्वलता उसके सुदीर्घ दुःख का कारण हुई, और इसी से उसे प्रेम का महत्व समझने में सहायता भी मिली। महत्ता तथा विपुलता की अनुभूति के लिए जब मनुष्य जीवन के सुदुर्गम पथ पर अग्रसर हो जाता है, तब उसे अपनी अर्न्तगत दुर्बलता के कारण अनेक बाधा-विघ्नों का सामना करना पड़ता है। इन बाधाओं के कारण ही विषाद का भाव उत्पन्न होता है। इस भाव को ग्येटे ने 'फौस्ट' में बड़ी खूबी के साथ समझाया है। फौस्ट अपनी जटिल तथा दुर्बोध प्रकृति के चक्र से स्वयं चक्कर में आता है, और उस जटिलता का विश्लेषण करते हुए कहता है : "हाय ! मेरे अन्धन्तर में दो आत्माएँ पर्यवसित हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरी को हटाने की चेष्टा में निरत रहती है। एक तो मद-विह्वल होकर संसार को भोग की इच्छा से इन्द्रियों द्वारा अत्यन्त प्रबलता से जकड़े रहना चाहती है, और दूसरी भोग की इस धूल को भाड़ कर अनन्त के साथ मिलित होने की आकांक्षा करती है।" द्विविध प्रकृति का भाव कुछ न कुछ अंश में प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है, पर प्रतिभाशाली तथा विवेचक व्यक्तियों में दो परस्पर विरोधी प्रकृतियों की धाराएं अत्यन्त स्पष्ट रूप से अलग-अलग बहती हुई दिखलाई देती हैं। यही कारण है कि प्रतिभाशाली तथा विवेचक स्त्री-पुरुष संसार में सबसे अधिक दुःखी होते हैं। एक तरफ उनके

चरित्र की दुर्बलता उनको पार्थिव सुख के लिए उत्तेजित करती है और दूसरी ओर उनकी प्रकृति अनंत के साथ संयोग के लिए व्याकुल रहती है। इन द्विविध भावों के संघर्षण से दुःख की ज्वाला भड़क उठती है।

प्रतिभाशाली व्यक्तियों में इन परस्पर-विरोधी भावों की प्रबलता क्यों पाई जाती है, इस समस्या का समाधान पाश्चात्य आचार्यों ने मनोविज्ञान के आधार पर करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि भाव तथा शक्ति-विशेष के ऐकांतिक अनुशीलन से मनुष्य के भीतर निहित समस्त शक्तियाँ एकीभूत होकर केवल उसी एक भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष में सफल होती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी अन्य वृत्तियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं, यहां तक कि साधारण मनुष्य से भी कई बातों में प्रतिभाशाली व्यक्ति गिरा हुआ होता है। पर एक विशेष भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष के कारण उसकी महत्ता प्रतिपादित हो जाती है। अन्य वृत्तियों के दुर्बल पड़ने से उसे जीवन पर्यंत कठिन दुःख उठाना पड़ता है। यह मनोवैज्ञानिक कारण यद्यपि असंगत नहीं, तथापि मानव-चरित्र इतना रहस्यमय है कि उसकी गति को कुछ विशेष वैज्ञानिक नियमों से निरूपित कर देना अनुचित जान पड़ता है। राम जैसे तीव्र प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कोई नहीं कह सकता कि उनकी सभी वृत्तियाँ यथोचित रूप से उत्कर्ष को प्राप्त नहीं थीं। तब सीता-त्याग के सम्बन्ध में उनकी दुर्बलता का क्या कारण दिया जा सकता है? फिर भी यह बात माननी पड़ती है कि अधिकांश प्रतिभाशाली स्त्री-पुरुषों की चरित्रगत दुर्बलता उनके आभ्यन्तरिक असामञ्जस्य के कारण ही प्रकट होती है। युधिष्ठिर परम धर्मभीरु होने पर भी जुए में अपनी स्त्री तक को हार जाते हैं। कोई साधारण व्यक्ति भी अधःपात की इस सीमा तक नहीं पहुँच सकता। अन्तःप्रकृति का यह असामञ्जस्य एक तर्फ उनको धर्म के शिखर पर पहुँचने के लिये प्रेरित करता है, और दूसरी तरफ अत्यन्त दीन बना देता है। इस असामञ्जस्य का कारण मनुष्य के अन्तःतल के भीतर निहित किसी रहस्यमय निगूढ़ विकार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ग्येटे ने 'फौस्ट' में मनुष्य के इस गहन मानसिक विकार पर सूक्ष्म रूप से विचार किया है। महाभारत में इस प्रकार के कितने ही विकारग्रस्त प्रतिभाशाली

स्त्री-पुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। यूरोप के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में ऐसे कितने ही चरित्र अंकित हुए हैं। पाश्चात्य साहित्य में श्रेष्ठ 'ट्रेजेडियों' के नायक इसी प्रकार के द्विविध व्यक्तित्व-सम्पन्न जीव हैं। हैमलेट और ओथेलो में यह प्रकृति पूर्ण मात्रा में पाई जाती है। हैमलेट के चरित्र में हम चित्तोत्कर्ष को चरमावस्था में पहुँचा हुआ पाते हैं; पर संसार की कठोर वास्तविकता पर विजय पानेवाली शक्ति उसमें नाम को भी न होने के कारण संशय, भ्रम तथा द्विविधा ने उसे अकर्मण्य बना दिया। उसकी द्विविधा-जनित अकर्मण्यता के कारण ही उसका तथा उसके साथ और भी कई लोगों का विनाश हुआ। ओथेलो में साहस तथा शौर्य की मात्रा हृद तक पहुँच गई थी, पर उसमें हम चित्तोत्कर्ष कुछ भी नहीं पाते। इसी कारण उसने द्विविधाहीन होकर अपनी प्यारी पत्नी की निर्मम हत्या कर डाली और अन्त को आत्मघात करके ही शांत हुआ। हैमलेट से हम स्त्री-हत्या की आशा कदापि नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि दोनों की साधना की गति पृथक्-पृथक् है। दोनों ने एक-एक विशेष वृत्ति के विकास को अपने चरित्र में हृद तक पहुँचा दिया था। पर अन्य वृत्तियों में दोनों हीन हैं। संसार-चक्र में किसी भी महान् व्यक्ति के जीवन की 'ट्रेजेडी' (शोकप्रद अन्त) पर लक्ष्य कीजिये, उसका मूल कारण अन्तःप्रकृति का यही असामञ्जस्य अथवा वैषम्य होगा। यूरोप के दुःखान् नाटक-साहित्य का जन्म इसी असामञ्जस्य की अनुभूति से हुआ है।

पर इस अतल, अथाह दुःख-सागर से त्राण पाने का कोई उपाय पाश्चात्य कवियों ने निर्देशित नहीं किया। उन्होंने दुःख का चित्र खींच कर ही अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझा है। पर हमारे साहित्य में यह बात नहीं है। दुःख क्या प्राच्य क्या पाश्चात्य सभी देशों के लोगों में समभाव से वर्तमान है, किन्तु हमारे कवियों ने उसे सहनशीलता के साथ ग्रहण किया है, और उसकी सार्थकता कहां पर है, इस बात पर विचार किया है। शकुन्तला के चरित्र में कवि ने दिखलाया है कि मानव-चरित्र की दुर्बलता से उत्पन्न प्रेम की चंचलता का परिणाम दुःखप्रद ही होता है। यह दुःख अवश्यभावी है। पर इसकी सार्थकता भी है। वह है चंचलता को कठिन त्याग तथा मातृत्व के स्नेहाश्रु द्वारा स्थायित्व प्रदान करके मंगलमय प्रेम में परिणत करना। यह भाव

किसी नैतिक शासन से नहीं, वरन् दुःख की आंतरिक ज्वाला से निखर कर भीतर से ही विकसित होता है। इस प्राच्य भाव को कुछ पाश्चात्य कवियों ने भी पूर्ण रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ अपनाया है। शेक्सपीयर ने ईसाई धर्म के मूल प्राण की अवहेलना की है, अन्यथा वह भी दुःख को शांत रूप से ग्रहण करता।

ईसाई धर्म में दुःख की सार्थकता बतलाई गई है। “शोकप्रकाश करने वालों को सान्त्वना दी जायगी,” इसलिये दुःख निरर्थक नहीं है। दुःख से सान्त्वना मिलेगी जिससे अनंत का रहस्य समझने में सहायता प्राप्त होगी। शेली की “इस धरातल के विषादमय वातावरण से ऊपर उठकर किसी दूर-स्थित उच्चभाव में मग्न हो जाने” की आकांक्षा में भी यही भाव व्यक्त होता है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में निरर्थक दुःख का तांडव नृत्य दिखलाया गया है। उसमें पाप की विभीषिका, आत्म-विद्रोह की प्रचंडता तथा निरर्थक हत्याकांड की उग्रता के चित्र कवि के हृदयस्थित शोक के रंग से रंजित हुए हैं, संदेह नहीं। पर वह शोक किसी परिणाम को नहीं पहुंचा।

शेक्सपीयर के नाटकों के नायक छिन्न मेघ की तरह दुःख के महाकाश में भटकते फिरते हैं। पर महत् कल्याण की स्थिर शांति को प्राप्त करने का कोई मार्ग वे नहीं ढूँढ़ पाते। तथापि इस प्रकार का दुःख अत्यन्त उत्कट तथा तीव्र होता है। इसकी कोई सार्थकता न होने पर भी अनंत के तट पर यह अपना चिन्ह अंकित कर ही देता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अधकार की छाया के भीतर एक प्रकार का स्थायित्व भाव पाया जाता है। रात-दिन के सुख-दुःख की चंचलता को स्थायित्व के सूत्र में ग्रथित करना ही विषाद-विशिष्ट साहित्य का उद्देश्य है। क्या कालिदास के सुखांत नाटकों में और क्या शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में इसी एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही विषाद रस का सन्निवेश पाया जाता है। उद्देश्य की पूर्ति से हमारा मतलब यह नहीं है कि कवि लोग किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही विषाद रस की अवतारणा करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि विषाद का भाव अस्थिर को स्थिरता से, चंचल को गांभीर्य से तथा अस्थायी को स्थायित्व से मंडित कर देता है।

छोटी कहानी की विशेषता

“निमेपे निमेप होये जाक् शेप
बहि निमेपेर काहिनी”

(प्रत्येक पल प्रतिपल की ही कहानी अपने भीतर बहने
करता हुआ पल ही में विलीन हो जाय।)

—रवीन्द्रनाथ

आजकल हिन्दी साहित्य में छोटी कहानियों का बोलबाला है। बिना कहानियों के मासिक पत्रों की गुजर नहीं। पर सत्साहित्य के नाम से कथा-साहित्य का जिस प्रकार सत्यानाश किया जा रहा है, उसे देखकर आंतरिक दुःख होता है। अगर कोई लेखक कोरे मनोरंजन के लिये कोई कहानी लिखता है, तो दूसरा लेखक कोरी तात्वालोचना में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। कहानी का उद्देश्य इन दोनों के ऊपर है। मनुष्य के हृदय-पट में अनेकानेक सुख-दुःखों का चक्र प्रतिक्षण धूप-छाँह का-सा खेल खेलता रहता है। इस धूप-छाँह का चित्र यथार्थ रूप से अंकित करके उसे अपने हृदय के सुन्दर रंगों और अभिनव भावों से रंजित करना ही सच्चे कलाविद् का उद्देश्य रहता है। कहानी का उद्देश्य न तो मनोरंजन ही है और न शिक्षा ही। उसका उद्देश्य है स्वाभाविक रीति से यथार्थमूलक सौंदर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना। हृदय के भाव नाना अवस्थाओं में बदलते रहते हैं। जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्षण से उलटी-सीधी गति से चलता रहता है। इस सुबृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की क्षणिक गति को प्रदर्शित करने—हृदय में भावों की किसी विशेष अवस्था के रंगों को रंजित करने में ही कहानी की विशेषता है। संसार में प्रत्येक पल की कहानी उसी पल में समाप्त होकर अनन्त से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा में है। छोटी कहानी में पल की यही क्षणिक गाथा वर्णित की जाती है। जिस मानसिक स्थिति से प्रणोदित होकर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं :

शुद्ध अकारण पुलक
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके

“हे मेरे प्राण ! तू केवल अकारण पुलक से पुलकित होकर, तू आज क्षणिक दिन के आलोक में केवल क्षण का ही गीत गा !” उसी मानसिक स्थिति की प्रेरणा से कवि छोटी कहानी लिखने को तत्पर होता है। “क्षणिक का गीत” यद्यपि प्रत्यक्ष में अस्थायी होता है, तथापि परोक्ष में वह अनन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। प्रत्येक पल की कहानी प्रत्येक पल में समाप्त होने पर भी अपने आप में पूर्ण है। इसलिये वह उपेक्षणीय नहीं है। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। पूर्ण से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर-चक्र वर्तमान होने से वह अपने-आप में पूर्ण है, उसी प्रकार प्रत्येक निमेष की कहानी भी।

बिना किसी कारण के पुलकित होकर कवि यह जो छोटी कहानी लिखने बैठता है, यह क्या केवल सुख की रचना है, दुःख की नहीं ? पुलक का संचार क्या केवल सुख ही के कारण होता है ? नहीं, दुःख की घटना भी अपने अदृश्य रस से कवि को पुलकित करने में समर्थ होती है। अगर ऐसा न होता तो ट्रेजेडी का कला में कोई स्थान ही न होता, और करुण रस निरर्थक होता। हमारे कवि ने करुण रस को सब रसों का सरताज माना है :

एको रसः करुणमेव निमित्तभेदाद्,

भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्।

एक ही करुण रस, अवस्था के भेद से, नाना रसों के रूप में प्रकाशित होता है। दुःख में भी एक प्रकार का माधुर्य भरा है। जो व्यक्ति सुखलित नहीं रहता वह दुःख में भी निर्विकार रहता है, और इसी कारण दोनों का रस ग्रहण करने में समर्थ होता है। रुद्र को सृष्टि और प्रलय के भीषण तांडव नृत्य में इतना आनन्द क्यों प्राप्त होता है ? कारण केवल यह है कि वह इन अवस्थाओं में से किसी में भी लित नहीं है, वह तटस्थ भाव से उन

सब का रस ग्रहण कर सकने में समर्थ है। जब तक कवि दुःख के रस में पूरी तरह डूबकर उसमें से वेदाग बाहर नहीं निकल आता, तब तक वह अच्छी कहानी या कविता लिखने में समर्थ नहीं हो सकता। यह रस ऐसा है कि जिसमें—‘अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग’।

इसमें एक बार सबको डूबना पड़ता है। जो डूबा रह जाता है, वह गया। जो पूर्णतः डूबकर बाहर निकल आता है वही कवि है, वही शानी है, वही दार्शनिक है, और सब पाखण्डी हैं। जिनकी रग-रग रस से ओत-प्रोत नहीं है, वे लोग अगर कोई कहानी या कविता लिखते हैं, तो वे ‘लिट-रेरी पेरेजाइट्स’ (साहित्यिक गलग्रह) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जब तक कवि दुःख में डूबा हुआ रहता, तब तक वह जो भी रस पिलाता है, वह कड़वा होता है। पर जब दुःख का रस उसकी आत्मा से छनकर निकलता है, तब उसका स्वाद ही अनिर्वचनीय हो जाता है।

प्रतिदिन के सुख-दुःख का रस ही जीवन का रस है। इस रस के आगे कोई भी तत्त्व ठहर नहीं सकता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानव-जीवन का रस मनोरंजन और तत्त्व, इन दोनों के परे है। पर इसके यह मानी नहीं कि वह आदर्शहीन है। नहीं, वह आदर्श से पूर्ण है। उसके आदर्श हैं—सौंदर्य और सामंजस्य। यहां पर जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि सौंदर्य और सामंजस्य ही जब छोटी कहानी के आदर्श हैं, तो इससे पढ़ने वालों को और समाज को फायदा क्या हुआ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि सौंदर्य के स्वाभाविक सामंजस्य की परिणति मानव-चरित्र को उन्नत बनाने में जितनी सहायता कर सकती है, उतना कोई शिक्षाप्रद कहानी नहीं। अपनी बात मैं दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहता हूँ। मान लीजिये, कोई स्त्री विधवा है और मायके में आकर रहती है। वहां वह गृहस्थ-जीवन के धन्धों में लगी है। यदि वह रूपवती होगी तो अवश्य ही किसी कहानी लेखक की नजरों में आ जायगी। मान लीजिये, दो कहानी लेखकों की शुभ दृष्टि उस पर पड़ी है। यह भी फर्ज कर लीजिये कि उनमें से एक कहानी-लेखक शिक्षाप्रद कहानियां लिखना पसन्द करता है, और दूसरा स्वाभाविकता का पक्षपाती है। इत्तफाक से शिक्षा-पसन्द कहानी-लेखक से किसी सम्पादक ने

अपने पत्र के 'विधवांक' के लिये कोई कहानी लिखने की प्रार्थना की। अब वह लेखक सम्पादक का आशय समझ कर उस विधवा के सम्बन्ध में अवश्य ही ऐसी कल्पना करेगा कि वह या तो वैधव्य-यंत्रणा सहन न कर सकने के कारण कुलटा बन गयी है या इतनी बड़ी सती है कि कितने ही मुग्ध प्रेमियों की प्रेम-याचना को तिरस्कृत करके धर्म-कर्म में लगी है और तुलसीकृत रामायण की अननूया की तरह अन्य स्त्रियों को सतीत्व का उपदेश दे रही है।

कहना नहीं होगा कि यह कहानी पाने से सम्पादक महोदय पुलकित हो उठेंगे, और अपने विधवांक को कृतार्थ समझेंगे। दोनों प्रकार के चित्रों से समाज को शिक्षा मिलेगी। पहली कल्पना से समाज की दुर्दशा पर प्रकाश पड़ेगा, और दूसरी कल्पना से हिन्दू विधवा का महान् आदर्श जनता में प्रतिष्ठित होगा। इसलिये शिक्षा-पसन्द आर्टिस्ट महाशय अवश्य ही पाठक और सम्पादक समाज के धन्यवाद के पात्र होंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर दूसरा लेखक कभी सम्पादक, समालोचक और पाठक की मांग के अनुसार कहानी नहीं लिखेगा। वह लिखेगा अपने हृदय की प्रेरणा से। वह सम्भवतः उस विधवा सुन्दरी के वास्तविक जीवन के प्रति दृष्टि रखकर उसके सम्बन्ध में यह कल्पना करेगा कि वह अपने वैधव्य के असहनीय दुःख की ज्वाला को अपने हृदय में शांतभाव से बहन करती हुई अपने माता-पिता, भाई-बहन और बहू-भाभियों पर अपने स्निग्ध हृदय का सुमंगल स्नेह बरसाती हुई, अविच्छिन्न रूप से, अविराम गति से घर के धन्धों में लगी हुई है; न किसी को कोई उपदेश देती है, न किसी का कोई उपदेश सुनती है; अपने हृदय की प्रचंड आग्नि को अपने ही हृदय की राख से ढके हुए है; किसी से अपने दुःख की शिकायत नहीं करती, केवल अनन्त की प्रतीक्षा में है, और अनन्त के लिये ही अपने जीवन का दीपक जलाए बैठी है। इस कर्म-निरता देवी, इस अज्ञात तपस्विनी के जीवन की स्वाभाविक स्निग्ध छवि की एक झलक याद वह लेखक अपनी छोटी कहानी में दिखा सके, तो उसकी स्निग्धता का जो प्रभाव पाठकों के हृदयों पर, उनके चरित्र पर पड़ेगा वह क्या कभी शिक्षाप्रद कहानी लेखक की रचना से पड़ सकता है? सौंदर्य अपने आप में पूर्ण है। उसे किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। सौंदर्य की स्वाभाविकता मनुष्य को अपकर्मों से बचाने

में जितनी सहायक होती है उतनी कोई शिक्षा नहीं हो सकती। ग्येटे ने अपने फौस्ट नामक नाटक में दिखलाया है कि फौस्ट संसार के दुःखों से ऊबकर, जहर का प्याला हाथ में लेकर, मुँह में डालना ही चाहता है कि अचानक बाहर सुमधुर संगीत का शब्द सुनकर किसी अनिर्वचनीय महद्भावना के उल्लास से पुलकित होकर थम जाता है। संगीत का सौंदर्य उसे आत्महत्या के पाप से बचा देता है। इसी प्रकार सच्चित्रा स्त्रियों के स्निग्ध प्रेम के कारण ऐसे आततायी अपराधियों को शीलवान होते देखा गया है, जिन्हें दंड द्वारा दी गयी शिक्षा नहीं सुधार सकी।

वर्तमान हिन्दी साहित्य में यह भ्रांत धारणा लोगों में बद्धमूल हो गई है कि किसी शिक्षा के बिना कहानी व्यर्थ है। इस कारण जहाँ देखिये वहाँ शिक्षा का जोर है। इसी प्रवृत्ति को हम लोग साहित्य की उन्नतावस्था समझ बैठे हैं। प्रेमचन्द जी की रचनाओं में यदि शिक्षा भरी पड़ी है, उनमें रचना कौशल भी वर्तमान है। इस कारण उनकी कहानियों में भी एक विशेष स्वाद पाया जाता है। पर उनके अनुयायी उनके दोष का ही अनुकरण करने में समर्थ हुए हैं, गुणों का नहीं। तुच्छ सांसारिक शिक्षा देना ही क्या चरम पुरुषार्थ है? मैं तो कहूँगा कि जो लेखक देने के बदले पाठकों को अपना हृदय प्रदान कर सकता है वही श्रेष्ठ कलावित् है। कला का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क या केवल हृदय से नहीं है। दोनों के सुसामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध से ही श्रेष्ठ कला की उद्भावना होती है।

आधुनिक छोटी कहानी का प्रचलन पहले-पहल किस लेखक ने किया था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर इसकी विशेषता सबसे पहले जर्मन कवि ग्येटे की कहानियों में पायी जाती है। इस महाकवि ने केवल कहानियों में ही नहीं, अपनी किसी भी रचना में कभी कोई उद्देश्य नहीं निर्दिशित किया है। रहस्यमय मानव-जीवन की सुख-दुःखमयी विचित्रताओं की झलक उसने अपनी कहानियों में दिखलाई है। कथा साहित्य के लिये फ्रांस प्रसिद्ध है, और वहाँ भी मोपासां इस कला में सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। इस लेखक की कहानियों में रविन्द्रनाथ की कविता का निम्नलिखित भाव पाया जाता है :

नदी जले पड़ा आलोर मतन

छुटे जा भलके भलके !

अर्थात् “नदी के अवरिल जल खेत में पड़े हुए आलोक की तरह भिल-मिली भलक से बहता चला जा ।”

पूर्वोक्त फ्रांसीसी लेखक ने वह भिलमिली भलक बड़ी सुन्दरता के साथ अपनी कहानियों में दर्शाई है । पर उसकी कहानियों में जीवन-सागर के भीतर उथलने वाला गंभीर रूप नहीं पाया जाता । इस कारण उसकी छिछली भावुकता रसज्ञ व्यक्ति को अनेक समय अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत होती है । कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उसने अपनी कहानियों में किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा नहीं की है । विशेष विशेष भावों को प्रतिबिम्बित करना ही उसका प्रथम तथा अन्तिम उद्देश्य रहा है । संध्या के स्वर्णिम आलोक में जो व्यक्ति निर्भर के भंरभंर प्रपात का अनुपम दृश्य देख कर मुग्ध है, मनुष्य के व्याक्तिगत सुख-दुःख की रंग-विरंगी आभाओं से जिसका मन उल्लसित हो उठा है वह क्यों कोई शिक्षा किसी को देने लगा । वह तो केवल आनन्द की ही अनुभूति व्यक्त करेगा । डिंकस की कहानियों में भी कहीं लौकिक शिक्षा का समावेश नहीं है । उनमें मानव-जगत के सुख-दुःखों को निष्ठुर परिहास में परिणत करके कोरा विनोद प्रदर्शित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है । इस प्रकार का आमोद और हास-परिहास यद्यपि अवास्तविक है, और इस प्रकार की कहानियां यद्यपि उच्च कला के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं की जा सकतीं (भले ही अंग्रेज लोग उनकी श्रेष्ठता की डींग मारते रहें) तथापि वे भी उद्देश्य-प्रधान नहीं हैं ।

समस्त साहित्य-संसार में यदि उच्च कोटि की कलात्मक कहानियां लिखने में कोई लेखक सफल हुए हैं, तो वे हैं रूसी लेखक, और उनमें भी विशेषतः टाल्सटाय और चेकाफ । सभी लोगों को विदित है कि टाल्सटाय कितने कष्टर नीतिनिष्ठ थे । पर उन्होंने अपनी कहानियों में भावों को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त कहीं भी कोई शिक्षा या नीति प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की है । अन्तिम जीवन में उन्होंने जो नैतिक उपदेशपूर्ण ‘पेरिवल्स’ लिखे थे वे कला के अन्तर्गत नहीं आते । वे उनके लेखों के अन्तर्गत हैं । जब कोई

रूसी हमसे पूछे कि क्या आपने टाल्सटाय की कहानियां पढ़ी हैं ? और हम इसका अर्थ यह समझें कि हमने उनके धर्म और नीति सम्बन्धी रूपक पढ़े हैं, तो वह हमारी अल्पज्ञता पर हँसेगा। टाल्सटाय की वास्तविक छोटी कहानियां और उनके 'पैरेबल्स' एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं।

टाल्सटाय अवश्य यह मानते थे कि मनुष्य के लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। पर वह यह भी जानते थे कि कला के भीतर शिक्षा का लेश मात्र स्थान नहीं है। उनकी 'कजाक', 'आइवान इलियिच की मृत्यु', 'जमींदार' आदि कहानियां पढ़िये। आपको मालूम होगा कि मानव-जीवन की मूल प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का जो स्वाभाविक सौंदर्य टाल्सटाय ने इन कहानियों में दर्शाया है, उसके सामने कोई भी शिक्षा या नीति नाचीज है। चेकाफ की कहानियों का भी यही हाल है। जीवन के विषाद का अतल सागर मथकर इन दो कलाविदों ने जो अनिर्वचनीय रस निकाला है, उसकी तुलना में क्या कोई तुच्छ सामाजिक शिक्षा ठहर सकती है ? हमारे देश में रवीन्द्र-नाथ और शरच्चन्द्र ने कहानी लिखने में विशेष ख्याति प्राप्त की है। रवीन्द्र-नाथ की कहानियों में उन्हीं की कविता का पूर्वोक्त भाव पाया जाता है :

शुधु अकारण पुलके

क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण

क्षणिक दिनेर आलोके !

और

नदी जले पड़ा आलोर मतन

छुटे जा झलके झलके !

अर्थात् अकारण पुलक से दिन के आलोक में क्षणिक का गीत गाना और नदी के अविरल जल स्रोत पर पड़े हुए प्रकाश की तरह झिलमिलाते हुए बहना—उनकी कहानियों की विशेषता है। पर उसकी झलक अत्यन्त अस्पष्ट और मायामरीचिका की तरह भ्रम उत्पन्न करने वाली है। इसमें संदेह नहीं कि उनमें शिक्षा की गन्ध तक नहीं है, और केवल निष्कलुष आनन्द का आभास है। पर यह सब होने पर भी उनकी कहानियां छायात्मक अधिक हैं, सत्तात्मक कम। उनकी कहानियों में स्वप्नलोक की ठगनी माया का ही प्रभाव अधिक है। ग्येटे, टाल्सटाय, चेकाफ आदि लेखकों की कहा-

नियों में व्यक्तिगत जीवन के प्रतिदिन के सुख-दुःख के जो कारुणिक और सत्ता-त्मक चित्र अंकित पाये जाते हैं, रवीन्द्रनाथ की कहानियों में उनका आभास कहाँ ! वास्तविक व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से रवीन्द्रनाथ ने कोई भी कहानी नहीं लिखी । उनकी कहानियों की अपेक्षा कविताओं में अधिक सत्तात्मक और व्यक्तिगत भाव पाये जाते हैं । वर्तमान युग में छोटी कहानी नाम की यह जो एक नई ललित कला आविर्भूत हुई है, इसकी विशेषता यही है कि यह व्यक्ति के प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप में अंकित करके उसे अनन्त की सत्ता के साथ मिला देने में समर्थ होती है । मनुष्य का प्रतिदिन का जीवन कोई भौतिक लीला नहीं है । वह सत्य है, वह वास्तविक है । कविता में भले ही उस जीवन की छाया प्रदर्शित की जाय किन्तु कहानी में उसकी वास्तविक प्राण-सत्ता प्रकट होनी चाहिये । रवीन्द्रनाथ यद्यपि व्यक्ति के सत्तात्मक जीवन के बड़े पक्षपाती रहे हैं, तथापि उनकी अधिकांश कहानियों में हम छाया ही पाते हैं । यद्यपि वह छाया अत्यन्त सुन्दर तथा अनुपम है, तथापि उससे कहानी की विशेषता खर्च हो जाती है ।

शरच्चन्द्र की कहानियों में व्यक्ति के जीवन की सत्ता यथार्थ रूप से प्रस्तुत हुई है । उनकी 'विन्दुर छेले', 'रामेर सुमति', 'मेज दीदी' आदि कहानियों में प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक सत्तात्मक वेदना ही मथित हुई है ।

हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द जी की कहानियों ने विशेष ख्याति प्राप्त की है । उनकी कहानियाँ शिक्षा-प्रधान हैं, पर उनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जो सत्तात्मक और सुन्दर हैं । उदाहरण के लिये उनकी 'सौत' शीर्षक कहानी पढ़िये । यह कहानी भाव-प्रधान है, इसलिये इसकी सुन्दरता अपूर्व रूप से खिल उठी है ।

कहानी के भूल भावों का सम्बन्ध मस्तिष्क द्वारा विश्लेषित हृदय से होना चाहिये । उसका उद्देश्य रसावेग को उभाड़ने का अधिक होना चाहिये, शिक्षावृत्ति को जागरित करने का नहीं । वह सत्तात्मक होनी चाहिये, छाया-त्मक नहीं ।

मेरे उपन्यास

मेरे उपन्यासों के सम्बन्ध में विभिन्न आलोचकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्मतियां प्रकट की हैं। कइयों ने उनकी प्रशंसा की है तो कइयों को वे पसन्द नहीं आये हैं। किसी ने उनके विशुद्ध कलात्मक यथार्थ-वादी रूप का महत्त्व स्वीकार किया है तो किसी ने उनके तथाकथित प्रचारात्मक आदर्शवाद की तीव्र आलोचना की है। पर प्रायः सभी श्रेष्ठ आलोचक इस बात पर एकमत रहे हैं कि मेरे उन उपन्यासों ने हिन्दी कथा-जगत् को एक 'नयी धारा' दी है। कुछ लोग इसे प्रशंसा के रूप में ले सकते हैं, पर मैं अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं मानता। केवल एक 'नयी धारा' दे देना, या एक तथाकथित 'नया स्कूल' कायम कर देना ही कोई बड़प्पन की बात नहीं हो सकती। बड़प्पन तो तभी माना जा सकता है जब उस नयी धारा या नये स्कूल का उद्भावन समाज में प्रचलित गतानुगतिक विचार-पद्धति में तीव्र आघात करने और उसमें किसी हद तक परिवर्तन करने में समर्थ हो।

मैं कह नहीं सकता कि मैंने इस दृष्टि से थोड़ी भी सफलता पायी है या नहीं। हाँ, इतना मैं अवश्य बता सकता हूँ कि अपने विभिन्न उपन्यासों को लिखने में मैं किन उद्देश्यों से परिचालित और किन विचारों से प्रेरित हुआ हूँ।

पर सबसे पहले मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं कभी जानकर अपनी किसी भी औपन्यासिक रचना में किसी विशेष आदर्श के प्रचार की भावना से प्रेरित नहीं हुआ हूँ। मैं यदि प्रेरित हुआ हूँ तो कोई एक कहानी कहने की लालसा से। अपनी कल्पना से कहानियां गढ़ने और फिर उन कहानियों को सुनाने का शौक मुझे बचपन से रहा है। वही प्रवृत्ति आज भी उसी रूप में वर्तमान है। अंतर जो कुछ हुआ है वह मेरे अनुभवों में—मेरे उद्देश्य में या मेरी शैली में नहीं। इस-

लिये जहाँ कहीं भी मेरी रचनाओं में आदर्शवाद आ घुसा हो वह। यह समझना चाहिये कि वह मेरे यथार्थवादी जीवन के निरंतर प्रवहमान अनुभवों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न स्फुलिंग-मात्र हैं ।

वास्तविक जीवन के अनुभव ज्यों-ज्यों व्यापक, गहन और मार्मिक होते चले जाते हैं त्यों-त्यों उनकी कलात्मक व्यंजना ऐसा रूप धारण करती चली जाती है जिसे आलोचकगण आदर्शवाद का नाम देते हैं । दूसरे शब्दों में जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की कलात्मक व्यंजना ही सच्चा और स्वाभाविक आदर्शवाद है । जिस आदर्शवाद का प्रस्फुटन वास्तविक जीवन के अनुभवों की संघर्षशीलता का स्वाभाविक परिणाम नहीं है, और जो केवल पाखंडपूर्ण पांडित्य से निकली हुई कल्पना का कोरा विलास है, उसका कोई भी महत्त्व स्वीकार करने को मैं तैयार नहीं हूँ । दुर्भाग्य से इस समय हिन्दी जगत् में इसी पाखंडपूर्ण पांडित्य की पूजा हो रही है और सहज जीवन की वास्तविक अनुभूतियों के स्वाभाविक विकास द्वारा प्रस्फुटित होनेवाली औपन्यासिक कला को लोग कम महत्त्व देना चाहते हैं ।

कुछ भी हो, मैं कह रहा था कि मेरी औपन्यासिक कला का मूल आधार है वास्तविक जीवन के निरंतर प्रवहमान और साथ ही परस्पर संघर्ष-रत अनुभव । मेरे उपन्यासों में उन्हीं अनुभवों के प्रस्फुटन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं । जीवन में जो भी व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभव मुझे होते चले गये हैं वे सब मेरे अंतर्मन में एकत्रित होते हुए एक दूसरे के संपर्क में और संघर्ष में आते गये हैं । मेरे अंतर में जो एक चक्कीनुमा रासायनिक यंत्र है उसमें वे सब अनुभव घुटते और पिसते चले गये हैं और उस रासायनिक समिश्रण की क्रिया के फलस्वरूप नये-नये कथा-रूप और नये-नये कला-तत्त्व उत्पन्न होते चले गये हैं । उन्हीं रासायनिक कथा-रूपों और कला-तत्त्वों के संयोजन ने ही मेरी औपन्यासिक रचनाओं का रूप धारण किया है ।

मुझसे अक्सर इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं—मैंने अपने अधिकांश उपन्यासों में ऐसे नायकों को क्यों लिया है जो जीवन के उच्च आदर्शों से गिरे हुए हैं, नैतिक दृष्टि से पतित हैं और असाधारण रूप से मनोविकार-ग्रस्त हैं ?

ऐसी नायिकाओं को क्यों लिया है जिनका सामाजिक स्तर बहुत निम्न है ? किन उद्देश्यों और किन आदर्शों के प्रस्फुटन के लिये मैंने ऐसा किया है ?

ये प्रश्न प्रत्यक्ष में तो बहुत सीधे जान पड़ते हैं, पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर इनके भीतर छिपी हुई जटिलता धीरे-धीरे सामने आने लगती है। मैं इन प्रश्नों की जटिलता को पूर्णतया सुलझा सकने की समर्थता अपने में नहीं पाता। फिर भी भरसक उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करूँगा। पहले प्रश्न के उत्तर में मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरे नायक पतित, भ्रष्ट और मनोविकारग्रस्त अवस्था में हैं, पर उनका पतन, भ्रष्टाचार और मनोविकार दूसरे यथार्थवादी उपन्यासकारों के नायकों की अपेक्षा अधिक नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि मेरे चरितनायक प्रत्यक्ष में दूसरे उपन्यासकारों के चरितनायकों की अपेक्षा बहुत अधिक गिरे हुए लगते हैं। इसका कारण केवल यह है कि दूसरे उपन्यासकारों के और मेरे दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। दूसरे उपन्यासकार अपने चरितनायकों के पतन में भी उनकी महानता दिखाने के प्रयास में अपनी सारी कला खर्च कर देना चाहते हैं और उनकी विकारग्रस्त मानसिकता को उनके हृदय की विशालता और उनकी विकृत प्रेम-भावना को उनके कवि-कोमल हृदय के स्वर्गीय उच्छ्वास के रूप में दिखाना चाहते हैं। पर मैंने अपने चरितनायकों की मानसिकता को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अंतर्परदर्शी एक्स-किरणों का प्रयोग आवश्यक समझा है और अत्यन्त तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक अस्त्रों द्वारा उसकी चीर-फाड़ करने की आवश्यकता महसूस की है। इसका फल यह हुआ है कि मेरे चरितनायकों के मन के भीतर बहुत गहराई में छिपी हुई समस्त विकृतियाँ स्पष्ट रूप से सामने आ गयी हैं और प्रत्यक्ष में दिखायी देनेवाले उनके शिष्ट, सांस्कृतिक, कवि-जनोचित 'महान् दुर्बलताओं' से पूर्ण रूप का पर्दा फाश हो गया है। यदि मैं तीखे मनोवैज्ञानिक अस्त्रों का प्रयोग न करता तो मेरे चरितनायक सभ्य, सुन्दर और सहज सहानुभूति के योग्य जान पड़ते। पर उनका ऐसा छद्म रूप समाज के आगे रखना मेरी यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को अभीष्ट न था—क्योंकि ऐसा करने से मैं जानबूझ कर पाठकों को धोखे में डालता।

उदाहरण के लिये, मेरे 'संन्यासी' के नायक नन्दकिशोर और शरत्चन्द्र के देवदास को लीजिये । इन दोनों की तुलना में मेरी बात स्पष्ट हो जायगी । यदि ठंडी बुद्धि से, यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा जाय तो नन्दकिशोर देवदास की अपेक्षा अधिक चरित्रवान जान पड़ेगा । देवदास ने समाज के डर से पार्वती से विवाह करने से इनकार किया, जिसे कि वह चाहता था । और पार्वती को त्यागने के बाद वह शराब की बोतल में अपने को डुबाता रहा और वेश्याओं के बीच में अपने मन को और तन को सड़ाता रहा । पर नन्दकिशोर समाज की परवाह न कर उपन्यास की नायिका शांति से कुछ ऊपरी कारणों से बीच-बीच में भगड़ते रहने पर भी बराबर उसका साथ देता रहा, और कभी उसने जानकर उसे त्यागने का विचार नहीं किया । यदि एक आकस्मिक कारण (जिसमें उसका हाथ नहीं था) न आ गया होता, और शांति उस कारण से तंग आकर स्वयं न भाग गयी होती, तो वह संभवतः अंत तक उसका साथ देता । यह होते हुए भी देवदास के प्रति अधिकांश पाठकों की सहानुभूति उमड़ उठती है, यहां तक कि उपन्यास-प्रेमी पाठक तो उसके पतित चरित्र को भी महान् और उन्नत समझ कर उसके प्रति श्रद्धापरायण हो उठते हैं । इसके विपरीत नन्दकिशोर के प्रति पाठकों के क्रोध और घृणा की सीमा नहीं रहती है—ऐसा मुझसे 'संन्यासी' के बहुत से पाठकों ने कहा है । इसका कारण वही है जो मैं पहले कह चुका हूँ । 'देवदास' के लेखक ने देवदास की दुर्बलताओं पर ऐसी रंगीनी चढ़ायी है, उसके पतन को ऐसा मोहक-रूप दिया है, उसकी मनोविकृति के प्रति ऐसी सहानुभूति प्रदर्शित की है कि उसकी सारी कमजोरियाँ एक अपूर्व महिमा से मंडित मालूम पड़ने लगती हैं और वह एक महान् प्रेमिक के रूप में हमारे सामने आता है, जिसके जीवन की सम्पूर्ण असफलता के लिये समाज उत्तरदायी ठहराया गया है । पर मैंने नन्दकिशोर की मानसिकता के विश्लेषण में भावुकता का तनिक भी सहारा न लेकर उसे पाठकों के आगे यथार्थ रूप में रख देने का प्रयत्न किया है । क्योंकि मेरी राय में भावुकता के रंग में रंगे हुए काल्पनिक चित्र की अपेक्षा यथार्थ रेखाओं द्वारा अंकित गहन मनोवैज्ञानिक चित्र अधिक महत्वपूर्ण और जीवन की वास्तविकता को समझाने में अधिक सहायक सिद्ध होते हैं ।

उसी प्रकार मेरे दूसरे उपन्यास 'पदों की रानी' का चरितनायक इंद्रमोहन जैनेन्द्र जी की सुनीता के नायक हरिमोहन से प्रयत्न में अधिक पतित मालूम पड़ने पर भी वास्तव में ऐसा नहीं है, बल्कि कुछ बातों में उससे उन्नत ही है। इंद्रमोहन निरंजना के पीछे इस हद तक पागल है कि उसके एक इशारे पर वह अपने प्राण दे देता है। यह ठीक है कि उसके भीतर बहुत-सी विकृतियां वर्तमान हैं और वह अपनी बहुत-सी विकट प्रवृत्तियों को कार्यरूप में परिणत करने से नहीं हिचकता। किसलिये? केवल इसलिये कि उसका प्रति रक्तकण प्रतिपल केवल एक ही लगन के पीछे उन्मुख रहता है। और वह लगन है निरंजना के सम्पूर्ण शरीर को, समग्र मन को और समस्त आत्मा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त करना और उसमें अपने-आपको निर्माजित कर देना—किन्हीं भी दामों पर—चाहे उसके लिये शैतान के हाथों स्वयं अपनी आत्मा को भी क्यों न बेचना पड़े।

इसके विपरीत हरिमोहन सुनीता को चाहते हुए भी शंकालु रहता है—अपनी सच्चरित्रता के कारण नहीं, बल्कि अपनी अद्वंद्व संकीर्णता और हीनता के कारण। सुनीता के प्रेम में वह पागल नहीं है, बल्कि उसके प्रति एक अत्यन्त हीन कोटि की गुप्त और चपल आकांक्षा से वह भीतर-ही-भीतर लुब्ध होता रहता है। सुनीता अपनी अन्तःप्रज्ञा से यह बात जान जाती है कि वह केवल एक तीव्र कुतूहली आकांक्षा से प्रेरित होकर उसकी ओर आकर्षित हुआ है। इसलिये वह एक दिन अपना नग्न शारीरिक रूप उसके आगे उद्घाटित कर देती है। वास्तव में हरिमोहन सुनीता की आत्मा को चीर कर देखने के लिये कभी उत्सुक नहीं रहा, बल्कि उसके शरीरत्व की रहस्यमयता के उद्घाटन के लिये ही कुतूहली था।

यह सब होते हुए भी इस हीन, कुटिल और संकीर्ण मनोविकार से ग्रस्त चरितनायक के प्रति लेखक की पूरी सहानुभूति रही है और उसने उसे एक रहस्यमय महान् आत्मा के रूप में चित्रित करके पाठकों की भी सहानुभूति उसके प्रति जगायी है। इस कारण घोर पतन के बावजूद हरिमोहन उन्नत चरित्र सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत इंद्रमोहन स्पष्टतया एक पतित हत्यारे का हत्यारा ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि मैंने उसके अवचेतन

मन का यथार्थभाव पूर्ण विश्लेषण करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अपने ऊपरी मन की सारी परिमार्जित रोमांटिक रंगीनी के बावजूद वह भीतर से घोर आत्मलीन प्रेमिक, अहंवादी मनुष्य और बर्बर पशु है।

शेखर और 'प्रेत और छाया' के नायक की भी पारस्परिक तुलना की जा सकती है। यदि शेखर का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उसी दृष्टिकोण से किया जाय जिस दृष्टिकोण से 'प्रेत और छाया' के चरितनायक का किया गया है तो दोनों चारित्रिक विकृति और नैतिक पतन में एक दूसरे से होड़ लेते हुए मालूम पड़ेंगे। पर दोनों के चरित्रांकन में दृष्टिकोणों का अंतर होने से शेखर अपनी घोर संकीर्ण अहंवादिता और हीन विकृतियों के बावजूद लेखक की पूरी सहानुभूति पाने के कारण एक सत्ययुक्त, सुसंस्कृत, परिमार्जित-रुचि, उच्च जीवन-दर्शन से समन्वित नायक के रूप में हमारे सामने आता है, और इसके विपरीत 'प्रेत और छाया' के चरितनायक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मैंने ऐसे यथार्थवादी दृष्टिकोण से, निर्भय रूप से तीक्ष्ण अस्त्रों द्वारा करने का प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप उसका पतित रूप सुस्पष्टतया, बिना किन्हीं मोहक रंगों के, पाठकों के आगे आ जाय।

ऊपर मैंने विभिन्न उपन्यासकारों की जिन-जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनके कलात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में मैंने कुछ नहीं कहना चाहा है। मेरी रचनाएं कला की दृष्टि से उनमें से किसी से हीन हो सकती हैं, और किसी से उन्नत। पर यह प्रश्न ही मैंने नहीं उठाया है। मैंने केवल दृष्टिकोणों का अंतर दिखाना चाहा है। मेरी यह धारणा है कि श्रेष्ठ कलाकार का उद्देश्य यह कदापि नहीं होना चाहिये कि चरितनायक की दुर्बलताओं को भी महिमान्वित किया जाय, अथवा भयंकर रूप से समाजघाती, मानसिक विकृतियों के बावजूद उसके व्यक्तित्व को मोहक और आकर्षक बना कर उसे महान् सिद्ध किया जाय। बल्कि उसके व्यक्तित्व की भ्रामक मोहकता को पृष्ठभूमि में डालकर उसकी विकृतियों के यथार्थ रूप को अत्यन्त गहराई से खोद कर जड़ से उखाड़ कर रख दिया जाय, जिससे उसके बाहर के सभ्य और सांस्कृतिक रूप का मुलम्मा साफ होकर उसके भीतर का सच्चा स्वरूप सामने आ जाय। इस उपाय से व्यक्ति, समाज और जीवन की वास्तविकता का जो प्रस्फुटन होगा

वह समाज के स्वस्थ निर्माण में सहायक सिद्ध होगा । यही सत्य मैंने अपने रचनात्मक जीवन में पाया है, और यदि नवयुग के लिये मेरा कोई संदेश हो सकता है तो वह यही है ।

कुछ आलोचकों ने मेरे उपन्यासों के दुर्बल और पतित नायकों की निंदा करते हुए, इसे मेरी कला की कमी बतायी है और यह मत प्रकट किया है कि युग को चट्टान की तरह टूट-चरित्र, धीरोदात्त नायकों की आवश्यकता है । इस आक्षेप के उत्तर में मुझे केवल यह कहना है कि यथार्थ जीवन में दुष्प्राप्य, कोरी कल्पना द्वारा गढ़े गये निर्जीव चट्टानी पुतलों को उपन्यासों के नायकों के रूप में खड़ा करने से कोरी सुधारवादी ब्रूजवा मनोवृत्ति की तुष्टि भले हो जाय, उससे वास्तविक जीवन की जटिल और ज्वलंत समस्याओं के समाधान में तनिक भी सहायता नहीं मिल सकती ।

राजनीतिक शक्तिमत्त अथवा शक्ति-प्रसार के मद से अंध, हिंसा-प्रति-हिंसा के रोग से ग्रस्त, युद्ध-ध्वस्त, जीवन-संघर्ष में पिसा हुआ, अन्नाभाव से जर्जर, भूत से विताड़ित, वर्तमान में दलित और भविष्य की अनिश्चित आशंकाओं से शंकित आज का संपूर्ण मानव-जगत् ही मनोविकार-ग्रस्त हो उठा है । इसलिये कोई भी ईमानदार, यथार्थवादी उपन्यासकार वास्तविक जीवन में से किसी ऐसे नायक को खोज नहीं पाता जो मनोविकार-ग्रस्त न हो और जो लोहे के समान सुदृढ़-चरित्र, नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत और जीवन के उच्च आदर्श के मान को अपनाये हुए हो । अंतर केवल यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति कुछ अधिक अंशों में मनोविकार-ग्रस्त है तो कोई कम अंशों में । इसलिये यदि समाज में छाये हुए मनोविकारों का सच्चा रूप सामने रखकर मनोविश्लेषण द्वारा उसके निराकरण के उपाय की ओर ही निर्देश करना है तो सबसे अच्छा तरीका यही है कि ऐसा चरित्रनायक खोजा जाय जिसकी मनोवृत्तियाँ औरों की अपेक्षा कुछ अधिक तीव्र हों । और मैंने यही किया है ।

अपने नारी-चरित्रों के सम्बन्ध में भी मैं दो बातें कह देना चाहता हूँ । हमारे सुधारवादी और विशुद्ध रोमांसवादी दोनों प्रकार के उपन्यासकारों ने नारी के संबंध में जिस दृष्टिकोण को अपनाया है उसमें हमारे यहां के परंप-

रागत बूर्जवा दृष्टिकोण से मूलतः कोई अंतर नहीं आने पाया है । इस संबंध में सबसे पहले शरत् के दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो मेरी बात कुछ स्पष्ट हो जायगी । शरत् के सम्बन्ध में किसी जमाने में बंगाली आलोचकों ने यह भ्रामक बात प्रचारित की थी कि उन्होंने परंपरा से पीड़ित और दलित नारी को समाज के बहुत ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया है और शरत् की नारियां युग की संकीर्ण भावना के प्रति विद्रोहिणी रही हैं । पर आज जब हम शरत् के संपूर्ण साहित्य का विवेचन और विश्लेषण प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के आधार पर करते हैं तब यह बात स्पष्ट सामने आती है कि शरत् ने अपने अधिकांश उपन्यासों में अपने स्त्री-पात्रों को परंपरा-प्रचलित आदर्श के आगे तनिक भी नहीं बढ़ाया । श्रीकांत की अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा घोषित करते हुए शरत् ने भारतीय नारी की चरम विवशता का गौरवगान गाया है । एक निकम्मे, चरित्रहीन, गंजेड़िये, भंगेड़िये और घोर अत्याचारी पति का साथ अन्नदा दीदी अन्त तक केवल इस पौराणिक आदर्श के आधार पर देती रही कि हर हालत में पातिव्रत धर्म को निभाना ही नारी का सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम और सबसे अंतिम गुण है । जिस प्रकार पौराणिक सती नारी अपने गलितांग पति की घृणित इच्छा की पूर्ति के लिये उसे कंधे पर रखकर वेश्या के यहां तक उसे पहुँचा आती है, अन्नदा दीदी भी उसी नारी के आदर्श की परम्परा को आगे बढ़ाती है । देवदास की पार्वती युगादर्श से विद्रोह न कर सकने के कारण निर्जीव वृद्ध पति के साथ शांतिपूर्वक विवाहित जीवन बिता कर संतोष कर लेती है । 'चरित्रहीन' की सावित्री चरित्रहीन नायक को सब-कुछ समर्पित करने पर भी उसके साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल इसलिये स्थापित नहीं कर पायी कि वह विधवा है । किरणमयी का भी यही हाल रहा । 'चरित्रहीन' की सरोजिनी यह जानने पर भी कि जिस व्यक्ति को वह चाहती है वह किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है, उससे वैवाहिक संबंध में बंधने के लिये अपने आत्मसम्मान तक को तिलांजलि दे देती है ।

हिंदी के सुधारवादी उपन्यासकारों ने भी शरत् की ही तरह अधिक से अधिक नारी के त्याग और तपस्या पर जोर दिया है । अर्थात् उन्होंने यह सुझाया है कि नारी का चरम कर्तव्य त्याग और तपस्या को अपनाते हुए

पुरुष-परिचालित समाज के सारे अत्याचारों को बिना किसी शिकायत के शांतिपूर्वक सहन करते चले जाना है। उसी में उसका कल्याण है। और हमारे विशुद्ध रोमांसवादी उपन्यासकारों ने भी पुरुष-नायक की समस्त उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों के बावजूद उसे आत्म-समर्पित करने में ही नारीत्व की महत्ता मानी है।

मैं अपने उपन्यासों में नारी के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण को कभी अपना नहीं पाया। मैंने ऐसे नारी-पात्रों को लिया है जिन्हें जीवन की घनघोर संघर्षमयी परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है और जिनकी अवचेतना में निहित विद्रोह के बीजरूपी अणुओं में उन संकटाकुल परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयंकर विस्फोट में परिणत होने की संभावना रही है। मेरे नारी-पात्रों में त्याग और तपस्या की तनिक भी कमी न होने पर भी उन्होंने कभी आत्मकायी, अहंवादी और अत्याचार-परायण पुरुष-पात्रों के साथ समझौता नहीं किया है। मैंने जानबूझ कर यथार्थ जीवन से ऐसी नारियों को चुना है जिनमें इस प्रकार के विद्रोहात्मक विस्फोट के बीज-तत्त्व निहित हों और जिनमें उस विस्फोट के परिणाम को अकेले अपने ही बूते पर पूर्णतया स्वीकार कर सकने की संभावना हो।

अब समय आ गया है कि आप युगों के अंधकार में बद्ध, सदियों के क्रूर निर्यातन से पीड़ित नारी-आत्मा के अंतस्तल में निहित विद्रोह की आवाज को किसी भी छल-छद्म से दबाने में समर्थ नहीं हो पायेंगे। उनकी अन्तरात्मा की वह फुफकारती हुई पुकार समाज की प्रत्येक अंध कंदरा में गूंजती हुई प्रचंड विस्फोटों के साथ बाहर के जगत में फूटने के सुस्पष्ट लक्षण प्रकट कर रही है। साथ ही अपने चारों ओर की काली-काली दीवारों को तोड़ने और फोड़ने में भी उसका अंतर्विद्रोह निकट भविष्य में सफल होकर ही रहेगा। पिछले कलाकारों की तरह दलित नारी के प्रति केवल सहानुभूति दिखाने से ही अब काम नहीं चलेगा। वह समय आ रहा है जब कलाकारों की श्रेष्ठता की परख एकमात्र इस बात से होगी कि नारी-आत्मा के अंतर में बीज-रूप में छिपी हुई विद्रोह की चिनगारी

को कौन कितनी अधिक तीव्रता से, प्रचंड अग्नि के रूप में प्रज्वलित करने में समर्थ होता है । केवल उसकी सामाजिक पीड़ा के प्रति काव्यात्मक करुणा जगाने वाले बुद्धिविलासी लेखकों की थोथी समवेदना की कोई आवश्यकता इस युग में नहीं है । नये युग की सच्चे अर्थों में प्रगतिशील नारी इस प्रकार की समवेदना और सहानुभूति को अपने लिये अपमानकर समझेगी । इस युग में तो नारी को कठोरतम परिस्थितियों के बीच में केवल अपने अंतर्विद्रोह के बल पर खड़ा होने के लिये उकसाने वाले यथार्थवादी आदर्शवादियों की प्रेरणा आवश्यक है । मैंने अपनी सीमित शक्ति से इसी ओर प्रयास किया है । इस कारण नारी के सन्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण अपने यहां के सभी उपन्यासकारों से भिन्न है । मैं मानता हूँ कि इस महाविद्रोह का डंका बजाने के लिये मेरी अपेक्षा बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता है, फिर भी स्वल्पमप्यास्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्, इस धर्म का स्वल्प भी महान् फलप्रद है ।



